वर्ष ४१ अंक ८ अगस्त २००३ मूल्य रु. ६.००

विवेक-ज्योति

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अगस्त २००३

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४१
अंक ८

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२२५२६९, ५०३६९५९, २२२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

श्रीरामकृष्ण के दृष्टान्त – १०

रेखांकन – स्वामी आप्तानन्द

श्रीरामकृष्ण – "मेरा नाम समाचार-पत्रों में क्यों निकालते हो? पुस्तकों या संवादपत्रों में लिखकर किसी को बड़ा नहीं बनाया जा सकता। भगवान जिसे बड़ा बनाते हैं, जंगल में रहने पर भी उसे सभी लोग जान सकते हैं। घने जंगल में फूल खिला है, भौंरा इसका पता लगा ही लेता है, पर दूसरी मक्खियाँ पता नहीं पातीं। मनुष्य क्या कर सकता है? उसके मुँह की ओर न ताको। मनुष्य तो एक कीड़ा है। जिस मुँह से आज अच्छा कह रहा है, उसी मुँह से कल बुरा कहेगा। मैं प्रसिद्धि नहीं चाहता। मैं तो चाहता हूँ कि दीन से दीन, हीन से हीन बनकर रहूँ।

"फूल के पूरी तरह खिल जाने पर उसकी सुगन्ध से मधुमक्खियाँ अपने आप खिंची चली आती हैं। इसके लिए उन्हें आमन्त्रण नहीं देना पड़ता। इसी प्रकार जब साधक पूर्ण, सिद्ध हो जाता है तो उसके पावन चरित्र की मधुर सुगन्ध चारों ओर फैल जाती है और सत्यप्राप्ति की स्पृहा रखनेवाले व्यक्ति अपने आप उसकी ओर आकर्षित होते हैं। उसे उपदेश सुनाने के लिए श्रोता की तलाश नहीं करनी पड़ती।

"शास्त्रादि लेकर विचार कब तक के लिए हैं? – जब तक ईश्वर के दर्शन न हों। भौंरा कब तक गुंजार करता है? – जब तक वह फूल पर बैठता नहीं। फूल पर बैठकर जब वह मधु पीने लगता है, तब फिर गुनगुनाता नहीं।"

नीति-शतकम्

खल्वाटो दिवसेश्वरस्य किरणैः सन्ताडितो मस्तके
वाञ्छन् देशमनातपं विधिवशात्तालस्य मूलं गतः ।
तत्राप्यस्य महाफलेन पतता भग्नं सशब्दं शिरः
प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यान्त्यापदः ।।९०।।

अन्वयः – खल्वाटः दिवसेश्वरस्य किरणैः मस्तके ताडितः सन् अनातपं देशं वाञ्छन् विधिवशात् तालस्य मूलं गतः, तत्र अपि पतता महाफलेन अस्य शिरः सशब्दं भग्नम् । प्रायः भाग्यरहितः यत्र गच्छति तत्र एव आपदः यान्ति ।

भावार्थ – एक गंजा व्यक्ति सूर्य की किरणों (धूप) से सिर गरम हो जाने पर छाया की तलाश करता हुआ संयोगवश एक ताड़-वृक्ष के नीचे जा पहुँचा। वहाँ भी ताड़ का विशाल फल जोरों की आवाज के साथ उसके सिर पर आ गिरा और उसका सिर फूट गया। भाग्यहीन लोग जहाँ कहीं भी जाते हैं, विपत्तियाँ भी प्रायः वहाँ आ पहुँचती हैं।

शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं
गजभुजङ्गमयोरपिबन्धनम् ।
मतिमतां च विलोक्य दरिद्रतां
विधिरहो ! बलवानिति मे मतिः ।।९१।।

अन्वयः – शशिदिवाकरयोः ग्रहपीडनम्, गजभुजङ्गमयोः अपि बन्धनम्, मतिमतां च दरिद्रतां विलोक्य 'अहो ! विधिः बलवान्' इति मे मतिः ।

भावार्थ – चन्द्रमा तथा सूर्य को भी राहु द्वारा ग्रसे जाते देखकर, हाथी तथा सर्प को बँधे हुए देखकर, बुद्धिमानों की निर्धनता को देखकर मुझे तो ऐसा लगता है कि भाग्य ही बलवान है।

– भर्तृहरि

आत्म-प्रबोध

– १ –

वृथा ही ढूँढ़ता है तू, नहीं सुख-शान्ति जीवन में ।
बदलता जा रहा है स्वप्न-सा, संसार क्षण क्षण में ।।

न सुख-सम्पद न सुत-दारा, नहीं कोई यहाँ तेरा ।
है यह सब खेल माया का, न होना लिप्त जीवन में ।।

कहाँ से कौन तू आया, न सोचा जग में ललचाया ।
समझ वह तत्त्व तू निज को, जो ओतप्रोत तन-मन में ।।

मिटा दे अपनी हस्ती को, लुटा दे अपनी बस्ती को ।
प्रभु ही सत्य हैं केवल, सदा जो व्याप्त कण कण में ।।

अभी संकल्प तू कर ले,
इसे मत व्यर्थ जाने दे ।
लगा अनमोल जीवन को,
उन्हीं के ध्यान-चिन्तन में ।।

– २ –

किसको ढूँढ़ रहे हो वन में,
उनसे ही निःसृत जग सारा, व्याप रहे कन कन में ।।

चाहे करो नेम-व्रत-साधन,
याग-यज्ञ-जप-तप-आराधन,
कुछ भी नहीं मिलेगा इनसे, काम-लोभ यदि मन में ।।

इष्टदेव को देख सभी में,
सेवा करो स्नेह रख जी में,
होगा चित्त पुनीत तुम्हारा,
मुक्ति मिलेगी क्षन में ।।

दीन-दुखी-पापी-तापित जो,
नारायण की ही मूरत वो,
निज सर्वस्व समर्पण कर दो,
इनके ही पूजन में ।।

– *विदेह*

श्रीकृष्ण और कर्मयोग

स्वामी विवेकानन्द

जहाँ तक मैं जानता हूँ कि वे (श्रीकृष्ण) एक ऐसे सर्वाधिक सामंजस्य-पूर्ण व्यक्ति हैं, जिनके मस्तिष्क, हृदय और बाहु – सभी समान तथा अद्भुत रूप से विकसित हैं। चाहे एक साधु पुरुष के रूप में हो, या योद्धा, या मंत्री, या किसी अन्य रूप में उनके जीवन का प्रत्येक क्षण क्रियाशीलता से जीवन्त हैं। वे एक सज्जन, एक विद्वान् और एक कवि के रूप मे महान् हैं। यह सर्वांगीण तथा आश्चर्यजनक क्रियाशीलता, और हृदय तथा मस्तिष्क का समन्वय तुम्हें गीता तथा अन्य ग्रन्थों में दीख पड़ेगा। परम आश्चर्यजनक हृदय, उत्कृष्टतम भाषा – कोई भी, कुछ भी उसकी बराबरी नहीं कर सकता। उनके प्रबल रूप से क्रियाशील व्यक्तित्व की धारणा अब तक बनी हुई है। पाँच हजार वर्ष बीत चुके हैं और उन्होंने करोड़ों लोगों को प्रभावित किया है। जरा सोचो तो, इस व्यक्ति का पूरे जगत् पर कितना प्रभाव है, भले ही वह तुम्हारी दृष्टि के परे हो। उनके प्रति मेरा सम्मान उनके पूर्ण मानसिक सन्तुलन के कारण है। उस मस्तिष्क में न तो जाले हैं, न अन्धविश्वास। वे हर वस्तु की उपयोगिता जानते हैं, और जब (उनमें से किसी को स्थान देना) उचित होता है, वे वहाँ (मौजूद मिलते) हैं।
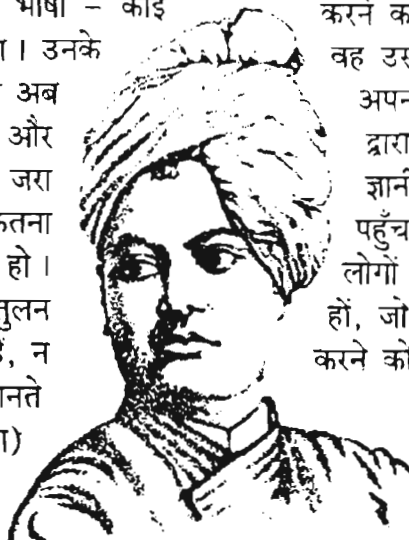
कृष्ण का यही महान् कार्य था। हमारे नेत्रों को स्वच्छ कराना और मानवता की उच्चतर तथा आगे की ओर प्रगति को विशालतर दृष्टि से दिखाना। सर्वप्रथम उन्हीं के हृदय में सबमें विद्यमान सत्य को देख सकने की विशालता प्रकट हुई और उन्हीं की वाणी से सर्वप्रथम सभी के लिए उत्कृष्ट शब्द उच्चरित हुए।

उनके सन्देश में हमें दो बातें सर्वोपरि मिलती हैं – पहली है विभिन्न विचारों का सामंजस्य और दूसरी अनासक्ति।

यह अहैतुकी भक्ति, यह निष्काम कर्म, यह निरपेक्ष कर्तव्य-निष्ठा का आदर्श धर्म के इतिहास में एक मील का पत्थर है। मानव-इतिहास में पहली बार भारतभूमि पर सर्वश्रेष्ठ अवतार श्रीकृष्ण के मुँह से सर्वप्रथम यह तत्त्व निकला था। भय और प्रलोभनों के धर्म सदा के लिए विदा हो गए और मनुष्य-हृदय में नरक-भय और स्वर्ग-सुख-भोग के प्रलोभन होते हुए भी **ऐसे सर्वोत्तम आदर्श का अभ्युदय हुआ – यथा प्रेम के निमित्त प्रेम, कर्तव्य के निमित्त कर्तव्य, कर्म के निमित्त कर्म।**

इस जगत् में प्रत्येक मनुष्य को कर्म करना ही पड़ेगा। केवल वही व्यक्ति कर्म से परे है, जो पूरी तौर से आत्मतृप्त हो, जिसे आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई भी कामना न हो, जिसका मन आत्मा को छोड़ अन्यत्र कभी भी गमन न करता हो, जिसके लिए आत्मा ही सर्वस्व हो। शेष सभी व्यक्तियों को तो कर्म अवश्य ही करना पड़ेगा।

किसी व्यक्ति ने चाहे एक भी दर्शनशास्त्र न पढ़ा हो, किसी प्रकार के ईश्वर में विश्वास न किया हो और न करता हो, चाहे उसने अपने जीवन भर में एक बार भी प्रार्थना न की हो, परन्तु केवल सत्कार्यों की शक्ति द्वारा उस अवस्था में पहुँच गया है, जहाँ वह दूसरों के लिए अपना जीवन और सब कुछ उत्सर्ग करने को तैयार रहता है, तो हमें समझना होगा कि वह उसी लक्ष्य तक पहुँच गया है, जहाँ कि भक्त अपनी उपासना द्वारा और दार्शनिक अपने ज्ञान के द्वारा पहुँचता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्ञानी, कर्मी और भक्त – तीनों एक ही स्थान पर पहुँचते हैं; और वह स्थान है – आत्मत्याग। लोगों के धर्म तथा दर्शन में कितने ही भेद क्यों न हों, जो व्यक्ति अपना जीवन दूसरों के लिए अर्पित करने को उद्यत रहता है, उसके प्रति समग्र मानवता श्रद्धा और भक्ति से नत हो जाती है।

कर्मयोग के अनुसार, बिना फल उत्पन्न किए कोई भी कर्म नष्ट नहीं हो सकता। प्रकृति की कोई भी शक्ति उसे फल उत्पन्न करने से रोक नहीं सकती। यदि मैं कोई बुरा कर्म करूँ, तो उसका फल मुझे भोगना ही होगा; विश्व में कोई भी शक्ति उसे रोक नहीं सकेगी। इसी प्रकार, यदि मैं कोई सत्कार्य करूँ, तो विश्व की कोई भी शक्ति उसके सुफल को रोक नहीं सकेगी।

जिस प्रणाली या विधि से हमारा मन किसी घटना-शृंखला की धारणा करता है, उसी को हम नियम कहते हैं, और यह हमारे मन में ही स्थित है। एक दूसरे के बाद या एक साथ ही होनेवाली घटनाएँ और उसके पश्चात् उनकी नियमित पुनरावृत्ति में विश्वास – जिससे हमारा मन सम्पूर्ण शृंखला की प्रणाली को ग्रहण करने में समर्थ होता है – नियम कहते हैं।

आदर्श व्यक्ति वह है, जो परम शान्ति व निस्तब्धता के बीच भी तीव्र कर्म; और प्रबल कर्मशीलता के बीच भी मरुस्थल की शान्ति व निस्तब्धता का अनुभव करता है। उसने संयम का रहस्य जान लिया है। वह स्वयं पर विजय प्राप्त कर चुका है। किसी बड़े शहर की भरी हुई सड़कों के बीच से जाने पर भी उसका मन वैसे ही शान्त रहता है, मानो वह किसी निःशब्द गुफा में हो, और इसके बावजूद उसका मन सर्वदा तीव्र रूप से क्रियाशील रहता है। यही कर्मयोग का

आदर्श है और यदि तुमने इसे प्राप्त कर लिया है, तो तुम्हें वास्तव में कर्म का रहस्य ज्ञात हो गया है।

अब देखो कि **कर्मयोग का अर्थ** क्या है। इसका अर्थ है – मौत के मुँह में भी पड़कर बिना तर्क-वितर्क के सबकी सहायता करना। भले ही तुम लाखों बार ठगे जाओ, पर मुँह से एक बात तक न निकालो; और तुम जो कुछ कार्य कर रहे हो, उनके बारे में सोचो तक नहीं। **निर्धन के प्रति किए गए उपकार पर गर्व मत करो और न उससे कृतज्ञता की ही आशा रखो**; बल्कि उल्टे तुम्हीं यह सोचकर उसके कृतज्ञ होओ कि उसने तुम्हें दान देने का एक अवसर दिया है।

कर्मयोग क्या है? कर्म के रहस्य का ज्ञान। ... संसार में इधर-उधर धक्के खाकर तथा बहुत समय तक चोटें सहन करने के बाद हम वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को समझते हैं; कर्मयोग के द्वारा हम कर्म का रहस्य, कर्म की पद्धति तथा कर्म की संघटक शक्ति को जानते हैं। यदि हमें शक्ति का उपयोग करना नहीं आता, तो उसका काफी अंश व्यर्थ चला जाता है। कर्मयोग कर्म को एक विज्ञान बना लेता है, जिसके द्वारा तुम यह जान सकते हो कि संसार की सारी क्रियाओं का कैसे सर्वोत्तम उपयोग हो। कर्म तो अनिवार्य है – करना ही पड़ेगा, किन्तु सर्वोच्च ध्येय को सम्मुख रखकर कार्य करो।

कर्मयोग कहता है कि निरन्तर कर्म करो, परन्तु कर्म में आसक्ति का त्याग कर दो। अपने को किसी भी विषय के साथ एकात्म मत कर डालो – अपने मन को मुक्त रखो। संसार में तुम्हें जो दु:ख-क्लेश दीख पड़ते हैं, वे तो विश्व के अपरिहार्य व्यापार हैं। दारिद्र्य, सम्पत्ति, सुख – सब क्षणिक हैं, वस्तुत: हमारे यथार्थ स्वरूप से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारा स्वरूप तो सुख और दु:ख से एकदम परे है, प्रत्यक्ष और कल्पना-गोचर विषयों से बिल्कुल अतीत है, तथापि हमें सतत कर्म करते रहना चाहिए। क्लेश कर्म से नहीं, आसक्ति से पैदा होता है। ज्यों ही हम अपने कर्म से स्वयं को एकात्म कर डालते हैं, त्योंही क्लेश उत्पन्न होता है। परन्तु हम अपने को उससे एकरूप न करें, तो हमें क्लेश छू तक नहीं सकता।

यह 'मैं' और 'मेरा' ही सारे क्लेशों की जड़ है। भोग की भावना के साथ ही स्वार्थ आ जाता है और स्वार्थपरता से ही क्लेश उत्पन्न होता है। स्वार्थपरता का हर कार्य और विचार हमें किसी-न-किसी वस्तु के प्रति आसक्त कर देता है और हम तत्काल उसके दास बन जाते हैं। चित्त की 'मैं' और 'मेरा' भावनावाली प्रत्येक लहर हमें तत्क्षण जंजीरों से जकड़कर गुलाम बना देती है। हम जितना ही 'मैं' और 'मेरा' कहते हैं, दासत्व का भाव उतना ही बढ़ता जाता है और उतने ही हमारे क्लेश भी अधिक बढ़ जाते हैं। अत: कर्मयोग हमें शिक्षा देता है कि हम संसार के सभी चित्रों के सौन्दर्य का आनन्द उठायें, पर उनमें से किसी के साथ भी एकात्म न हो जायँ।

अत: कर्मयोग कहता है कि पहले तुम स्वार्थपरता के अंकुर के बढ़ने की इस प्रवृत्ति को नष्ट कर दो। और जब तुममें इसको रोकने की क्षमता आ जाय, तो उसे पकड़े रहो और मन को स्वार्थपरता की ओर न जाने दो। फिर तुम संसार में जाकर और यथाशक्ति कर्म कर सकते हो। फिर तुम सबसे मिल सकते हो, जहाँ चाहो जा सकते हो, तुम्हें कुछ भी पाप स्पर्श न कर सकेगा। **जैसे पद्मपत्र के जल में रहने पर भी जल उसका स्पर्श नहीं कर सकता, उसे भिगो नहीं सकता, वैसे ही तुम भी संसार में निर्लिप्त भाव से रह सकोगे।**

अपने बाह्य शरीर के प्रति हम जो कुछ भी करते हैं, उससे अनासक्ति का कोई सम्बन्ध नहीं, वह तो पूर्णतया मन में होती है। 'मैं और मेरा' को बाँधनेवाली जंजीर तो मन में रहती है। यदि शरीर और इन्द्रियगोचर विषयों के साथ इस जंजीर का सम्बन्ध न रहे, तो फिर हम कहीं भी क्यों न रहें, हम बिल्कुल अनासक्त रहेंगे। हो सकता है कि एक व्यक्ति राजसिंहासन पर बैठा हो, तो भी बिल्कुल अनासक्त हो; और दूसरी ओर यह भी सम्भव है कि एक व्यक्ति चिथड़ों में हो, तथापि वह बुरी तरह आसक्त हो। पहले हमें इस प्रकार की अनासक्ति प्राप्त कर लेनी होगी और फिर सतत कार्य करते रहना होगा। यद्यपि यह बड़ा कठिन है, परन्तु कर्मयोग वह प्रक्रिया प्रदान करता है, जिसके द्वारा हम सभी आसक्तियों से मुक्त हो सकते हैं।

आसक्ति का पूर्णत: त्याग करने के दो उपाय हैं। प्रथम उपाय उन लोगों के लिए है जो न तो ईश्वर में विश्वास करते है और न किसी बाह्य सहायता में। वे अपने ही उपायों का प्रयोग कर सकते हैं, उन्हें अपनी मन तथा विवेक की शक्ति के साथ अपनी इच्छाशक्ति पर निर्भर होकर कहना होगा, "मैं अनासक्त होऊँगा ही।" जो ईश्वर पर विश्वास करते हैं, उनके लिए एक दूसरा मार्ग है, जो इसकी अपेक्षा काफी सरल है। वे समस्त कर्मफलों को ईश्वर को अर्पित करके कर्म करते जाते हैं, अत: कभी कर्मफल में आसक्त नहीं होते। वे जो कुछ देखते है, अनुभव करते हैं, सुनते या करते हैं, वह सब भगवान के लिए ही होता है। हम जो कुछ भी सत् कार्य करें, उससे हमें किसी प्रकार की प्रशंसा या लाभ की आशा नहीं करनी चाहिए। यह सब तो प्रभु का ही है। सारे फल उन्हीं को अर्पित कर दो।

अग्नि में आहुतियाँ देने की अपेक्षा दिन-रात केवल यही एक महान् आहुति – अपने इस क्षुद्र 'अहं' की आहुति – देते रहो। "संसार में धन की खोज करते करते हे प्रभु, मैंने केवल तुम्हीं को एकमात्र धन पाया; मैं तुम्हारे चरणों में अपनी बलि देता हूँ। किसी प्रेमास्पद की खोज करते-करते, हे नाथ, केवल तुम्हीं को ही मैंने एकमात्र प्रेमास्पद पाया। मैं तुम्हारे चरणों में अपनी बलि देता हूँ।" हम दिन-रात यही दुहराते रहें और कहें, "हे प्रभु! मुझे कुछ नहीं चाहिए। कोई वस्तु अच्छी हो, या बुरी, चाहे तटस्थ, मैं उसे जरा भी नही चाहता। मै

सब कुछ तुम्हीं को अर्पित करता हूँ।'' रात-दिन तब तक हमें इस भासमान 'अहं' का त्याग करते रहना चाहिए, जब तक कि यह हमारा स्वभाव ही न बन जाय, जब तक कि यह हमारे शरीर की शिरा-शिरा में, नस-नस में और मस्तिष्क में व्याप्त न हो जाय और हमारा सम्पूर्ण शरीर प्रतिक्षण आत्मत्याग के इस भाव अनुवर्ती न हो जाय। फिर तुम तोप के धमाकों और रण के तुमुल कोलाहल से पूर्ण युद्धक्षेत्र में जाओ, वहाँ पर भी तुम अपने को सदैव मुक्त और शान्तियुक्त पाओगे।

मैं कर्म करना चाहता हूँ, किसी व्यक्ति का उपकार करना चाहता हूँ। और एक की तुलना में नब्बे लोग ऐसे मिलेंगे जो सहायता किये जाने पर सारे उपकारों को भूलकर मुझसे शत्रुता करेंगे – इसके फलस्वरूप मुझे कष्ट होता है। ऐसी घटनाएँ ही मनुष्य को कर्म से विरत कर देती हैं और इन दु:ख-कष्टों का भय ही मनुष्यों के कर्मोद्यम को नष्ट कर देता है। किसकी सहायता की जा रही है अथवा किस कारण से सहायता की जा रही है, आदि विषयों पर ध्यान न रखते हुए अनासक्त भाव से केवल कर्म के लिए ही कर्म करते जाना चाहिए – कर्मयोग यही शिक्षा देता है। कर्मयोगी कर्म करते हैं, क्योंकि यह उनका स्वभाव है, वे अनुभव करते हैं कि ऐसा करना ही उनके लिए हितकर है – इसे छोड़ उनका अन्य कोई उद्देश्य नहीं रहता। वे संसार में सर्वदा दाता का आसन ग्रहण करते हैं, कभी किसी वस्तु की प्रत्याशा नहीं रखते। वे जान-बूझकर दान करते जाते हैं, परन्तु प्रतिदान-स्वरूप वे कुछ नहीं चाहते, इसी कारण वे दु:खों से मुक्त हो जाते हैं।

नि:स्वार्थ कर्म द्वारा मानव जीवन के चरम लक्ष्य, इस मुक्ति को प्राप्त कर लेना ही कर्मयोग है। अत: हमारा प्रत्येक स्वार्थपूर्ण कर्म हमारे इस लक्ष्य तक पहुँचने में बाधक होता है, और प्रत्येक नि:स्वार्थ कर्म हमें उसकी ओर आगे बढ़ाता है। इसलिए नैतिकता की यही एकमात्र परिभाषा हो सकती है – ''जो स्वार्थपर है, वह 'अनैतिक' है और जो नि:स्वार्थपर है, वही 'नैतिक' है।''

कर्मयोगी को किसी भी प्रकार के सिद्धान्त में विश्वास करने की जरूरत नहीं। वह चाहे ईश्वर में विश्वास न भी करे, आत्मा के बारे में न भी जानना चाहे, या किसी प्रकार का दार्शनिक विचार भी न करे, इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। उसके समक्ष उसका अपना लक्ष्य रहता है – नि:स्वार्थता की प्राप्ति और यह उसे अपने प्रयत्न द्वारा ही प्राप्त करना होता है। उसके जीवन के प्रत्येक क्षण में यह बोध होना चाहिए, क्योंकि उसे किसी मत या सिद्धान्त की सहायता लिए बिना, केवल कर्म के द्वारा ही अपनी इस समस्या का समाधान करना होता है, जबकि ज्ञानी उसी समस्या का समाधान अपने विचार व अन्त:प्रेरणा द्वारा और भक्त अपनी भक्ति द्वारा करता है।

संसार-क्षेत्र में कूद पड़ो और कर्म का रहस्य जान लो – इसी को कर्मयोग कहते हैं। इस संसार-यंत्र से दूर न भागो, वरन् इसके अन्दर ही खड़े होकर कर्म का रहस्य सीख लो। भीतर रहकर कौशल से कर्म करके बाहर निकल आना सम्भव है। इस यंत्र से होकर ही बाहर निकल आने का मार्ग है।

लोगों ने मुझसे कई बार पूछा है कि हम कार्य के लिए जो एक प्रकार का आवेग अनुभव करते हैं, यदि वह न रहे तो हम कार्य कैसे करेंगे? मैं भी पहले ऐसा ही सोचता था, पर ज्यों ज्यों मेरी आयु बढ़ रही है, जितना ही अनुभव बढ़ता जा रहा, उतना ही मैं देखता हूँ कि यह सत्य नहीं है। कार्य के भीतर आवेग जितना ही कम रहता है, वह उतना ही उत्कृष्ट होता है। हम लोग जितने अधिक शान्त होते हैं, उतना ही हमारा कल्याण होता है और हम काम भी अधिक अच्छी तरह कर पाते हैं। जब हम लोग भावनाओं के अधीन हो जाते हैं तब अपनी शक्ति का अपव्यय करते हैं, अपनी स्नायुओं को विकृत कर डालते हैं, मन को चंचल बना डालते हैं, पर काम बहुत कम कर पाते हैं। जिस शक्ति का कार्यरूप में परिणत होना उचित था, वह वृथा भावुकता मात्र में परिणत होकर नष्ट हो जाती है। जब मन अत्यन्त शान्त और एकाग्र रहता है, केवल तभी हम लोगों की सारी शक्ति सत्कार्य में व्यय होती है। यदि तुम जगत् के महान् कार्यकुशल लोगों की जीवनियाँ पढ़ो, तो देखोगे कि वे अद्भुत शान्त प्रकृति के लोग थे। कोई भी वस्तु उनके चित्त की स्थिरता भंग नहीं कर पाती थी। इसीलिए जो क्रोधी होता है, वह कभी अधिक मात्रा में कार्य नहीं कर पाता, और जिस व्यक्ति को कभी क्रोध नहीं आता, बहुत अधिक कार्य सम्पन्न कर लेता है। जो व्यक्ति शीघ्र ही क्रोध, घृणा या किसी अन्य आवेग से अभिभूत हो जाता है, वह कोई काम नहीं कर पाता, स्वयं को चूर चूर कर

कौन थे विवेकानन्द

रामकृष्ण-सारदा की, मानस-सन्तान दिव्य
सन्त साधकों की आन-बान थे विवेकानन्द।

जाकर विदेश में भी, देश की बचाई शान
ऐसे ही महान्, ज्ञानवान थे विवेकानन्द।

कुटिल कुरीति दम्भ-द्वेष के खिलाफ सदा
बोलने में सिंह के समान थे विवेकानन्द।

प्रेरक 'राजेश' राष्ट्र-प्रेमियों के धर्मादर्श
भारत के सच्चे स्वाभिमान थे विवेकानन्द।

– स्वामी राजेश्वरानन्द सरस्वती

डालता है और कुछ भी व्यावहारिक नहीं कर पाता। केवल शान्त, क्षमाशील, स्थिरचित्त वाला व्यक्ति ही सर्वाधिक काम कर पाता है।

जैसे पद्मपत्र पानी में रहकर भी उससे नहीं भीगता, मनुष्य को भी वैसे ही संसार में रहना चाहिए – उसका हृदय ईश्वर में लगा रहे और उसके हाथ कर्म करने में लगे रहें।

केवल बातें बनाने का कोई महत्त्व नहीं। बोल तो तोते भी लेते हैं। केवल अनासक्त कर्म के द्वारा ही पूर्णता आती है।

स्वामीजी – यह सत्य है कि तपस्या से शक्ति उत्पन्न होती है, पर दूसरों के लिए कर्म करना ही तपस्या है। कर्मयोगी कर्म को तपस्या का एक अंग कहते हैं। जैसे तपस्या से परहित की इच्छा बलवान होकर साधकों से कर्म कराती है, वैसे ही दूसरों के निमित्त कार्य कराते कराते चित्त-शुद्धि के रूप में तपस्या का फल प्रदान कर परमात्मा का दर्शन भी कराती है।

शिष्य – परन्तु महाराज, कितने लोग शुरू से ही दूसरों के लिए जी-जान से कार्य कर सकते हैं? पहले से ही मन में वह उदारता कैसे आएगी, जिससे मनुष्य आत्मसुख की इच्छा को बलि देकर औरों के निमित्त जीवन-दान करता है?

स्वामीजी – और तपस्या करने में ही कितने मनुष्यों का मन लगता है? काम-कांचन के आकर्षण से ऊपर उठकर भला कितने मनुष्य भगवत्प्राप्ति की इच्छा करते हैं? जैसे तपस्या कठिन है, वैसे ही निष्काम कर्म भी कठिन है। अत: जो लोग परोपकार के लिए कार्य करते हैं, तुझे उनके विरुद्ध कुछ कहने का अधिकार नहीं है। यदि तुझे तपस्या अच्छी लगे, तो तू वही किए जा, परन्तु यदि किसी को कर्म ही अच्छा लगे, तो उसे रोकने का तुझे क्या अधिकार है? क्या तू यही सोच बैठा है कि कर्म तपस्या नहीं है?

शिष्य – जी महाराज, पहले मैं तपस्या का अर्थ कुछ दूसरा ही समझता था।

स्वामीजी – जैसे साधन-भजन का अभ्यास करते करते उसमें दृढ़ता आ जाती है, वैसे ही पहले अनिच्छा के साथ कर्म करते करते भी मन क्रमश: उसी में मग्न हो जाता है और परार्थ कार्य करने की प्रवृत्ति होती है। एक बार तू अनिच्छा के साथ ही सही, दूसरों की सेवा कर न, फिर देखना कि तपस्या का फल प्राप्त होता है या नहीं। **परार्थ कर्म करने के फल से मन का टेढ़ापन नष्ट हो जाता है** और व्यक्ति निष्कपट भाव से औरों के मंगल के लिए प्राण देने को भी तैयार हो जाता है।

शिष्य – परन्तु महाराज, परहित का उद्धेश्य क्या होगा?

स्वामीजी – अपना ही हित-साधन। यदि तू यह सोचे कि तू शरीर के जिस अंहभाव को लिए बैठा है, उसे दूसरो के लिए उत्सर्ग कर दिया है, तो तू इस अहंभाव को भी भूल जाएगा और अन्त में विदेह-बुद्धि आ जाएगी। एकाग्र चित्त से दूसरों के लिए जितना सोचेगा, उतना ही अपने अहंभाव को भूलेगा। इस प्रकार कर्म करने पर जब क्रमश: चित्तशुद्धि हो जाएगी, तब इस तत्त्व की अनुभूति होगी कि अपनी ही आत्मा सब जीवों तथा घटों में विराजमान है। **दूसरों का हित करना आत्मविकास का एक उपाय है – एक पथ है।** इसे भी एक प्रकार की साधना जानना। इसका भी उद्देश्य आत्मविकास है। ज्ञान, भक्ति आदि की साधना से जैसे आत्मविकास होता है, परार्थ कर्म करने से भी वैसे ही होता है।

यदि संसार त्यागने के उपदेश को उसके प्राचीन स्थूल अर्थ में लिया जाय, तो निष्कर्ष यही निकलता है कि हमे कोई कार्य करने की जरूरत नहीं, आलसी होकर मिट्टी के ढेले की भाँति बैठे रहना ठीक होगा, कोई विचार या कार्य करने की जरा भी आवश्यकता नहीं, भाग्यवादी होकर, घटनाचक्र की लताड़ें खाकर, प्राकृतिक नियमों द्वारा परिचालित होकर इधर-उधर घूमते रहने से ही काम चल जाएगा। बस, यही निष्कर्ष निकलता है। किन्तु पूर्वोक्त उपदेश का अर्थ वस्तुत: ऐसा नही है। हम लोगों को कार्य अवश्य ही करना पड़ेगा। व्यर्थ की वासनाओं के चक्र में पड़कर इधर-उधर भटकते फिरनेवाले साधारण जन 'कर्म' के विषय में भला क्या जानें? जो लोग अपनी भावनाओं और इन्द्रियों से परिचालित हैं, वे कर्म को भला कैसे समझेंगे? कार्य वे ही कर सकते हैं, जो किसी कामना या स्वार्थपरता के द्वारा परिचालित नहीं होते। वे ही सच्चा कार्य करते हैं, जिनमें कोई कामना नही है। वे ही कार्य करते हैं, जो बदले में किसी लाभ की आशा नही रखते। ❏

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि पिछले किसी अक से बनना हो, तो उसका उल्लेख करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें - 'नया सदस्य'।

(३) अपनी पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही उसका नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उससे पहले प्राप्त शिकायतों पर ध्यान नहीं दिया जायेगा। अक उपलब्ध होने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अक ५/- रुपयों का अतिरिक्त खर्च वहन करके इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमारे कार्यालय को न भेजें।

(६) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

अंगद-चरित (९/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'अंगद-चरित' पर कुल १० प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उसके नवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक हैं। – सं.)

जनकपुर में जनक जी की जो प्रतिज्ञा है, उसे यदि बहिरंग दृष्टि से देखें तो बड़ी विचित्र-सी लगती है। इसी विचित्रता के कारण परशुराम जी ने जनक जैसे ज्ञानी को जड़ की उपाधि दे दी। धनुष टूटने के बाद जब परशुराम जी आए, तो उन्होंने जनक जी से यह नहीं कहा कि महाराज जनक, यह बताइए कि इस धनुष को किसने तोड़ा। उन्होंने जनक जी के लिए ये शब्द कहे – अरे मूर्ख जनक, यह धनुष किसने तोड़ा? –

कहु जड़ जनक धनुष कै तोरा ।। १/२७०/३

इसका अर्थ क्या है? यह कि तोड़ने वाले को हम बाद में देखेंगे, पर तुम्हें तो हम पहले ही यह उपाधि दे दें – तू बड़ा भारी मूर्ख है। – क्यों? – इसलिए कि इस धनुष के टूटने में मूल कारण तो तू ही है। तूने यह कैसी मूर्खतापूर्ण प्रतिज्ञा कर दी। आज तक विश्व के इतिहास में जिस किसी ने धनुष द्वारा परीक्षा ली, तो उसने धनुष चलवाकर देखा। यह तो कभी नहीं सुना कि धनुष तुड़वाना भी परीक्षा की कोई विधि है, धनुष तोड़ना भी किसी योग्यता का प्रमाण है।

यदि धनुष के द्वारा ही परीक्षा लेनी थी, तो तुम बाण चलवाकर, कोई लक्ष्य-वेध कराकर परीक्षा ले लेते। जो धनुष से बाण चलाकर लक्ष्य-वेध कर देता, वह धनुर्विद्या में अपना पाण्डित्य प्रमाणित कर देता है और जो लक्ष्य-वेध नहीं कर पाता, वह अयोग्य सिद्ध होता है। द्रौपदी के विवाह में इसी पद्धति का परिचय मिलता है। महाराज द्रुपद ने प्रतिज्ञा की थी – निरन्तर घूम रही एक यंत्रमयी मछली के नीचे एक पात्र में तेल भरा हुआ है। अब धनुष पर बाण चढ़ाकर, उस तेल में मछली का प्रतिबिम्ब देखते हुए उस घूमती हुई मछली की आँख को बाण से जो बींध देगा, उसे द्रौपदी वरण कर लेगी। इस प्रयत्न में अन्य कोई राजा सफल नहीं होते और कर्ण भी व्यंग्य सुनकर बैठ जाता है। अन्त मे अर्जुन के द्वारा ही वह लक्ष्य-वेध होता है और द्रौपदी अर्जुन के गले में जयमाल पहनाती है। पर द्रौपदी के विवाह की प्रक्रिया दूसरी है। द्रौपदी अर्जुन की, पाण्डवों की पत्नी है। **अर्जुन नर हैं, भगवान श्रीकृष्ण नारायण हैं**। यहाँ भी भगवान श्रीराम साक्षात् नारायण हैं। नर और नारायण की योग्यता की परीक्षा एक ही पद्धति से नही होगी। नर की योग्यता की परीक्षा तो उसकी एकाग्रता में है। चंचल मछली रूपी लक्ष्य का वेध करना। इसे यदि सांकेतिक रूप में देखें, तो गोस्वामी जी मन की तुलना मछली से करते हैं और भगवान से अनुरोध करते हैं –

बिषय बारि मन-मीन भिन्न नहिं होत कबहु पल एक ।
ताते सहौं बिपति अति दारुन जनमत़ जोनि अनेक ।।
(विनय. १०२/३)

– महाराज, यह मेरा मछली रूपी मन विषय के जल में ही निरन्तर डूबा रहता है। जैसे मछली को जल से अलग कर दिया जाय तो मछली को ऐसा लगता है कि जैसे उसका प्राण चला जाएगा, इसी प्रकार से मन विषय में इतना रस लेता है कि यदि एक क्षण के लिए विषय दूर हो जाय तो मन को ऐसा लगने लगता है जैसे उसकी मृत्यु हो जाएगी।

इसलिए द्रुपद ने जो पद्धति अपनाई इसका अभिप्राय यह है कि जीवन में द्रौपदी को जो पाने का मार्ग है, वह तो है लक्ष्यवेध का। लक्ष्यवेध अर्थात् मन की एकाग्रता। अर्जुन में कितनी एकाग्रता है, इसकी परीक्षा होती है। अर्जुन की इस एकाग्रता की परीक्षा पहले भी गुरु द्रोणाचार्य द्वारा ली जा चुकी है। वहाँ भी समस्त कौरव-पाण्डवों के बीच अर्जुन में ही यह विशेषता परिलक्षित होती है। शिष्यों की परीक्षा लेते समय जब द्रोणाचार्य पक्षी बनाकर एक एक करके शिष्यों से पूछने लगे – क्या तुम्हें वृक्ष दिखाई दे रहा है? शिष्य कहता था – हाँ। – वृक्ष की डालें? – हाँ। – पत्ते? – हाँ। पर जब उन्होंने यही प्रश्न अर्जुन से किया तो अर्जुन ने कहा – नहीं। – तो तुम्हे क्या दिखाई दे रहा है? बोले – आँख। आँख को बींधना ही लक्ष्य था। द्रोणाचार्य प्रसन्न हो गए। अर्जुन ने लक्ष्यवेध किया। और यहाँ द्रुपद की परीक्षा-विधि भी वही है। द्रौपदी के स्वयंवर में इसी एकाग्रता की परीक्षा थी और वह विलक्षण एकाग्रता अर्जुन में दिखाई देती है। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य के जीवन में सबसे बड़ी विजय वही है, जो अर्जुन ने करके दिखाया। और वह विजय यही है कि मनुष्य अपने मन को एकाग्र करके लक्ष्यवेध कर ले। यही उसके जीवन का परम साधन है।

परन्तु यहाँ? यहाँ महाराज जनक धनुष पर बाण रखकर चलाने के लिए, लक्ष्यवेध करने के लिए नहीं कहते। वे तो

कहते हैं कि जो धनुष तोड़ देगा, उसी को सीता वरण करेगी। जनक जी ने धनुष क्यों नहीं चलवाया? परशुराम जी से तो वे डर के मारे सही बात तक नहीं कह पाते, पर जब परशुराम जी ने कहा – "तू कितना जड़ है कि तूने शंकर जी से धनुष लिया और उस धनुष की अनेक वर्षों तक पूजा की और अब न जाने तेरी कैसी बुद्धि हो गयी कि तुमने कह दिया कि इस धनुष को तोड़ दो। जब इस धनुष के द्वारा परीक्षा ही लेनी थी, तो इसे चलवाकर क्यों नहीं देखा?"

महाराज जनक बोले – महाराज, मैं धनुष को चलवाकर कैसे देखता? – क्यों? बोले – "शंकर जी ने यदि धनुष के साथ बाण भी दिये होते, तो मैं चलवाकर देखता। पर बाण तो उन्होंने दिये नहीं, केवल धनुष दे दिया। अब इस बाणरहित धनुष को चलवाने का तो प्रश्न ही नही उठता।" – चलवा नहीं सकते थे, तो तुड़वाना जरूरी था क्या?

यहाँ पर दूसरी दार्शनिक भाषा है। – क्या? शंकर जी ने धनुष तो दिया, पर बाण क्यों नहीं दिये? बाण के द्वारा लक्ष्य-वेध होता है न! इस धनुष के साथ जो बाण था, उसके द्वारा लक्ष्यवेध हो चुका था। उसके बाद कोई लक्ष्य शेष नहीं है।

शंकर जी का यह धनुष मूर्तिमान अहंकार है। यह अभिमान कोई साधारण अभिमान नहीं है। अहंकार की भी कई कोटियाँ हैं। हनुमान जी तो रावण से भी नहीं कह सके कि तुम पूरा अभिमान छोड़ दो। हनुमान जी तो प्रारम्भ यहीं से करते हैं – अच्छा ऐसा करो, तुम सतोगुणी अभिमान मत छोड़ो, रजोगुणी अभिमान भी मत छोड़ो, लेकिन कम-से-कम तामसिक अभिमान तो छोड़ दो। हनुमान जी का यह वाक्य आपने ध्यान से पढ़ा होगा या सुना होगा, उसमें एक शब्द जुड़ा हुआ है –

मोह मूल बहु सूलप्रद त्यागहु तम अभिमान। ५/२३

हनुमान जी रावण का स्वभाव समझ गए थे। उन्होंने सोचा – चलो यहीं से श्रीगणेश किया जाय। अभिमान छोड़ देना क्या इतना ही सरल है? इसमें एक क्रम है और इसकी सीढ़ी यही है कि हम तमोगुणी अभिमान से रजोगुणी अभिमान में जायँ, रजोगुणी अभिमान से सत्वगुणी अभिमान में जायँ और अन्त में सत्वगुणी अभिमान के द्वारा साधना का लक्ष्य पूरा हो जाय, तो उसका भी त्याग हो जाना चाहिए। साधना करते समय हम किसी-न-किसी प्रकार के अहंकार को स्वीकार करके उसका सदुपयोग करें तमोमय अहंकार से रजोमय, रजोमय से सत्वमय और सत्वमय अहंकार से जब लक्ष्य पूर्ण हो जाय, तब अभिमान से पूरी तौर से ऊपर उठने की आवश्यकता है।

शंकर जी के इस धनुष से लक्ष्यवेध हो चुका है और उससे बढ़कर कोई लक्ष्यवेध नहीं हो सकता। वह लक्ष्य क्या था? – त्रिपुरासुर नाम का वह अद्भुत दैत्य। उसका चमत्कार यह था कि आकाश में तीन नगर बने हुए थे, एक सोने का, एक चाँदी का और एक लोहे का। जब कभी त्रिपुरासुर पर आक्रमण होता, तो वह एक नगर को छोड़कर दूसरे में चला जाता था। जब पता चला कि उसका विनाश तो तभी होगा, जब कोई इन तीनो नगरों को एक ही बाण से एक साथ नष्ट कर दे। इसे यदि आध्यात्मिक दृष्टि से देखे तो यह त्रिपुरासुर हम सभी के जीवन में है। हमारा मन ही त्रिपुरासुर है और इसके ये तीन नगर हैं – काम, क्रोध और लोभ। इसमें सोने का नगर लोभ का प्रतीक है। जब आप लोभ को जीतने की चेष्टा करेंगे तो कुछ क्षणो के लिए ऐसा लगेगा कि लोभ समाप्त हो गया. पर एक ओर जहाँ लोभ नहीं दिखाई दे रहा है, वही दूसरी ओर क्रोध दिखाई देने लगता है, तीसरी ओर काम दिखाई देने लगता है। इन तीनों नगरों को एक साथ नष्ट करने का अर्थ यह है कि जब तक इन तीनो बुराइयो में से किसी एक बुराई से लड़ते रहेंगे, तब तक हम कभी सफल नहीं होंगे। जरूरत किसी ऐसे दिव्य बाण की है, जिसके द्वारा ये तीनों नगर एक साथ जलकर नष्ट हो जायँ और विजय तभी मिलेगी।

त्रिपुरासुर को कोई मार नहीं पा रहा था। काम, क्रोध, लोभ तीनों को एक साथ मारने में सभी असमर्थ हैं। अन्त मे सबने मिलकर भगवान शंकर से प्रार्थना की – महाराज, आप ही कृपा कर इस त्रिपुरासुर का संहार कीजिए। पुराणो में तो बड़े गम्भीर और बहुत-ही विलक्षण पद्धति से इसका वर्णन हुआ है। संसार की सर्वश्रेष्ठ वस्तुएँ मिलाकर धनुष बनाया गया। और उसके बाद सर्वश्रेष्ठ शक्तियों को नियोजित करके बाण बनाया गया। तब शंकर जी ने धनुष पर बाण चढ़ाकर उस एक ही बाण के द्वारा उन तीनों पुरों को जलाकर नष्ट कर दिया और त्रिपुरासुर के संहार से सारे संसार के जीव सुखी हो गए। इसका तात्त्विक अभिप्राय यह है कि जीवन मे जितने पवित्रतम साधन हैं – तप, यज्ञ, दान आदि सबको नियोजित करके वेदों अर्थात् सद्ग्रन्थों का आश्रय लेकर किसी प्रकार हम इस काम-क्रोध-लोभ पर विजय प्राप्त करके उसकी समस्या का समाधान पा लें तो ऐसी स्थिति में इससे बढ़कर महान् कोई सफलता, कोई विजय नहीं होगी। लेकिन उसके बाद?

भगवान शंकर की महानता क्या है? काम-क्रोध-लोभ को जीतने के बाद एक ही डर है कि व्यक्ति अपने आपको इन तीनों का विजेता न मान बैठे। नारद जी तो इसी चक्कर में पड़ गए थे। जब वे तपस्या कर रहे थे और इन्द्र ने अप्सराओं को भेजा तो नारद जी पर कोई प्रभाव नही पड़ा। उसके बाद काम भयभीत हो गया कि नारद जी कहीं क्रोध मे आकर हमें शाप न दे दें। वह नारद जी के चरणों में गिर पड़ा। पर नारद जी को क्रोध नहीं आया। कामदेव ने सफाई दी – महाराज, इन्द्र को यह डर लगा कि आप स्वर्ग का सिंहासन छीनना चाहते हैं, इसलिए उन्होंने आपको तपस्या से विरत करने का आदेश मुझे दिया। तब नारद ने मुस्कुराकर यह कहा – नही

नहीं, मेरे मन में स्वर्ग का कोई लोभ नहीं है, और ऐसा लगा कि इन्होंने तो काम के साथ क्रोध तथा लोभ को भी जीत लिया है। शंकर जी भी तीनों के विजेता हैं।

लेकिन अगले ही क्षण अन्तर दिखाई दे गया। शंकर जी ने जिस धनुष-बाण के द्वारा त्रिपुरासुर पर विजय पाई, उस धनुष-बाण का परित्याग कर दिया। बाण का कार्य तो पूरा हो गया और बचा हुआ है धनुष। उसे भी उन्होंने जनक जी को सौंप दिया। पर नारद जी की समस्या क्या थी? काम जब उनके चरणो मे प्रणाम करने गया, तो जाते जाते उसने नारद के कान मे एक बात कह दी – महाराज, संसार में बड़े बड़े महापुरुष हुए, पर आपके जैसा महान् तो कोई हुआ ही नहीं। यह सुनकर नारद को बड़ा अभिमान हुआ – वाह, कैसा अद्वितीय मेरा व्यक्तित्व है, जो कार्य कोई नहीं कर सका, वह मैंने कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि उस अभिमान ने उनके सारे विजय को समाप्त कर दिया। इसका अभिप्राय यह है कि हम सात्त्विक अहंकार के द्वारा ही साधना और सत्कर्म करते है, पर जब साधना का उद्देश्य पूरा हो गया, तब अन्तिम लक्ष्य तो यही है कि व्यक्ति कर्तृत्व-भाव से मुक्त हो जाय।

भगवान शंकर की विशेषता यही है कि जनक को बाण उन्होंने इसलिए नही दिया कि अब कोई लक्ष्य बाकी ही नहीं रहा। लक्ष्य तो पूरा हो गया। अब बचा क्या है? मन के द्वारा काम, क्रोध, लोभ तीनों का समाधान हो गया, पर अब धनुष को जनक को क्यों दे दिया? त्रिपुरासुर जिसके द्वारा मारा गया, जैसे लोहे के द्वारा लोहा काटा गया, पर जिस लोहे से काटा गया, वह तो बच ही गया। परन्तु भगवान शंकर बोले – नहीं भाई, अब इस धनुष को ढोते रहना उचित नही है। यह ढोते रहना शब्द बड़े महत्व का है। इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति जब अपनी विशेषताओं का अभिमान नही छोड़ पाता, तो वस्तुत: वह उसे ढोता ही रहता है, हर समय प्रदर्शित करने की चेष्टा करता है कि मैं कितना महान् हूँ, मैंने कितना बड़ा कार्य किया है – यही अभिमान को ढोना है। शंकर जी की विशेषता यही है कि उन्होंने त्रिपुरासुर पर विजय प्राप्त करने के बाद इस अभिमान का वह बोझ उतार दिया। और केवल उतार ही नही दिया, बल्कि धनुष और भगवान शंकर मे बड़ा मीठा संवाद हुआ। किसी ने गोस्वामी जी से पूछा – यह धनुष इतनी आसानी से टूट कैसे गया? गोस्वामी जी बोले – भाई, यह धनुष शंकर जी के पास था और शंकर जी ने इसके कान में एक पाठ दे दिया था। गीतावली मे गोस्वामी जी कहते हैं – मानो शंकर जी ने इस धनुष को पाठ पढ़ाया –

जनु हुतो पुरारि पढ़ायो ।। १/९३/२

धनुष ने कहा – महाराज, आपने त्रिपुरासुर को जीत लिया मेरे द्वारा और सबको तो मुक्ति दे दी, परन्तु मेरे साथ आपका व्यवहार बिल्कुल उल्टा है। – क्या? – संसार को तो आप मुक्ति देते हैं, पर मुझे बाँधते क्यों हैं? अब धनुष को जब तक डोरी से कसकर न बाँधा जाय, तब तक चलेगा नहीं। भगवान शंकर ने मुस्कुराकर कहा – "अन्य वृत्तियों को जीत लेना, यह तो मुक्ति का उपाय है ही, पर जब तक तुम धनुष रहोगे, तब तक बाँधे जरूर जाओगे। अच्छे काम के लिए बाँधे जाओगे। अब एक ही उपाय है, मैं तुम्हें जनक को दे रहा हूँ और जब साक्षात् ब्रह्म भगवान राम जनकपुर पधारें, तब तुम ऐसा प्रयत्न करना कि किसी तरह टूट जाओ। जिस दिन तुम टूट जाओगे, बन्धन भी छूट जाएगा। तुम जरा भी भूल मत करना, तत्काल टूट जाना, टूटने में देर न करना, प्रसन्न होकर टूट जाना।" इसका सांकेतिक अभिप्राय यह है कि **अन्तिम विजय अहंकार पर विजय है और वह विजय तो ईश्वर के सामर्थ्य से ही सम्भव है।** व्यक्ति काम, क्रोध, लोभ तक को तो अपने साधन के द्वारा जीत सकता है, पर अपने 'मैं' को कैसे जीतेगा? 'मैं' के द्वारा 'मैं' कैसे जीता जाएगा? 'मैं' को जीतने का एकमात्र उपाय वही है, जो शंकर जी ने धनुष को बताया।

भगवान शंकर ने धनुष जनक जी को दे दिया और जनक जी उसकी पूजा करने लगे। श्रेष्ठतम महापुरुष वह है जो बुराइयों पर विजय पा लेने के बाद अभिमान से मुक्त हो जाय। पर वह धनुष पूजा का पात्र है और जनक जी ने इतने दिनों तक उसकी पूजा की, इसका अर्थ यह है कि जिस साधन-पद्धति के द्वारा दुर्गुणों पर विजय प्राप्त हुई, ऐसे महापुरुष का चरित्र भी पूजनीय है, उसकी साधना-पद्धति भी पूजनीय है और ऐसा अभिमान भी पूजनीय है जो साधना और सत्कर्म के लिए प्रेरणा दे। पर अन्ततोगत्वा उसकी अन्तिम परिणति क्या है? महाराज जनक के मन में आया – इतने दिनों तक मैंने इसकी पूजा की, यह तो बड़ी अच्छी बात है, पर अब इस पूजा का अन्तिम फल क्या है? हम पूजा सात्त्विक अहंकार लेकर ही तो करते हैं, पर इस पूजा का अन्तिम फल यही है कि इससे वह सात्त्विक अभिमान भी पूरी तौर से टूट जाता है।

इतने दिनों तक जनक जी ने जो पूजा की, वह भी सार्थक है, क्योकि वह तमोमय, रजोमय नहीं, अपितु समष्टि का दिव्य अहंकार है। यह त्रिपुरासुर को मारनेवाला अहंकार है। पर अब जनक जी की विशेषता यही है कि वे चाहते हैं कि धनुष टूटे। और शायद इससे बड़ी बात दूसरी कुछ नहीं होगी। मनुष्य के जीवन की सबसे बड़ी दुर्बलता, सबसे बड़ी समस्या क्या है? हम चाहते हैं कि चाहे सब कुछ टूट जाय, परन्तु अभिमान न टूटने पाए। यहाँ तो हम भगवान से भी यही प्रार्थना करते हैं – प्रभो, मुझे नीचा न देखना पड़े। हमें हर क्षण यही चिन्ता लगी रहती है कि हमारा सिर न झुक जाय, हमारे अभिमान को धक्का न लगे। परन्तु महाराज जनक की स्थिति क्या है? वे भगवान से यही प्रार्थना करते हैं – प्रभो, यदि आप प्रसन्न हैं तो आप मेरे अभिमान को नष्ट कर दीजिए, खण्डित कर दीजिए,

जीवन में सात्त्विक अभिमान भी शेष न रह जाय। यही जनक के ज्ञान की सर्वोच्च स्थिति है, यही उनके विदेहत्व की कसौटी है और उसी के अनुकूल उनकी प्रतिज्ञा भी थी।

परन्तु परशुराम जी की सबसे बड़ी समस्या यह थी कि उन्होंने सात्त्विक अहंकार के साथ साथ रजोमय अहंकार को भी स्वीकार किया। रजोगुणी अहंकार होने के कारण दण्ड देने की प्रवृत्ति भी उनमें है। जब सारी पृथ्वी के क्षत्रियों को दण्ड देने के बाद भी उन्होंने राज्य नहीं लिया और निज वंश का विस्तार नहीं किया, तो इस प्रकार उन्होंने अपने दिव्य सात्त्विक अहंकार का परिचय दिया। परन्तु अन्ततः परशुराम जी यह समझ नही पा रहे हैं कि अच्छी वृत्ति – अच्छा अभिमान – क्या यह भी छोड़ने की चीज है? इसीलिए वे जनक को समझ नहीं पाते और सोचते हैं कि उन्होंने यह प्रतिज्ञा करके भूल की है। पर जनक की प्रतिज्ञा बिल्कुल ठीक है और वह धनुष भी कितनी आसानी से टूट गया। अनेक राजा अपना अभिमान, अपना 'मैं' लेकर आए थे। वे उस धनुष के पास भी पहुँचे, परन्तु जितने राजा उसे छूते थे, धनुष उतना ही भारी हो जाता था –

मनहुँ पाइ भट बाहुबलु
अधिकु अधिकु गरुआइ ।। १/२५०

भारी हो जाने का अर्थ यह है कि वे लोग अपना क्षुद्र 'अहं' लेकर शिव जी के दिव्य अहंकार पर विजय पाने चले। परिणाम यह हुआ कि सभी असफल रहे। और भगवान श्रीराम के मामले में यह जो शिव है, अहंकार है, वह समर्पित है –

लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़ें ।
काहुँ न लखा देख सबु ठाढ़ें ।।
तेहि छन राम मध्य धनु तोरा । १/२६१/७-८

और धनुष टूटने की सर्वोच्च कसौटी क्या थी? परशुराम जी ने भगवान राम से पूछा – जब तुमने इतने बड़े धनुष को तोड़ दिया, तो तुम्हें अभिमान तो जरूर हुआ होगा? ठीक ये ही शब्द थे परशुराम जी के –

भंजेउ चापु दापु बड़ बाढ़ा ।
अहमिति मनहुँ जीति जगु ठाढ़ा ।। १/२८३/६

पर भगवान राम को यह सोचकर हँसी आ गई कि कोई व्यक्ति भाषण देते हुए कहे कि मेरे मुँह में जीभ नहीं है, तो इसमें तो स्पष्ट विरोधाभास है और इस पर आपको हँसी आए बिना नहीं रहेगी।

भगवान राम का अभिप्राय यह है कि 'यदि शंकर जी का धनुष टूटने के बाद भी अभिमान बना रह जाय, तो धनुष टूटा कहाँ? धनुष टूटने का तो अभिप्राय यह है कि तोड़नेवाला मैं हूँ, यह भाव ही न रह जाय।' परशुराम जी कहते हैं – लेकिन व्यवहार मे तो लोग यही कहते हैं। दूसरों को लगता है कि श्रीराम द्वारा तोड़ा गया, पर स्वयं भगवान राम को नहीं लगता कि मैंने तोड़ा, इसलिए वे परशुराम जी से कहते हैं – "महाराज, केवल कारण ही ढूँढ़ना हो तो आप भले ही ढूढ़ें, पर जब कोई घटना होती है और जो व्यक्ति उसमें दिखाई देता है, उसी की हम प्रशंसा करते हैं, उसी को सम्मान देते हैं। पर इसके लिए यदि श्रेय देना ही है, तो आप 'दो' को दीजिए।" – किन दो को? – या तो हमारे गुरुजी को या काल को। – क्यों? भगवान बोले – महाराज, धनुष तो बहुत देर से रखा हुआ था। जनक जी के बन्दी ने प्रतिज्ञा सुना दी, पर तब तो मैं नहीं उठा। – क्यों नहीं उठे? भगवान बोले – "यदि मुझमें तोड़ने की शक्ति होती, तो सबसे पहले उठकर तोड़ देता। वस्तुतः होता यह है कि **प्रत्येक कार्य के होने का एक समय होता है**। जन्म का भी समय है, मृत्यु का भी समय है, किसी वस्तु के मिट जाने का भी समय है। अन्तर इतना ही था कि अन्य राजा जब धनुष के पास गये, तब उसके टूटने का समय नहीं हुआ था। गुरु विश्वामित्र को काल का ज्ञान था। उन्होंने देखा कि अब समय आ गया, बस, मुझे भेज दिया" –

बिस्वामित्र समय सुभ जानी ।
बोले अति सनेहमय बानी ।।
उठहु राम भंजहु भव चापा ।
मेटहु तात जनक परितापा ।।
सुनि गुरु बचन चरन सिरु नावा ।
हरषु बिषादु न कछु उर आवा ।। १/२५४/५-७

जब भगवान राम धनुष की ओर चले, तो उनमें न हर्ष था न विषाद। इसका अर्थ यह है कि यदि अभिमान रहा, तो हर्ष भी होगा और विषाद भी होगा। सफलता मिलेगी तो अभिमानी को हर्ष होगा, सफलता नही मिलेगी तो विषाद होगा। भगवान राम को हर्ष-विषाद दोनो ही नही हुआ। कर्तृत्व-बोध से रहित श्रीराम कहते हैं – "महाराज, समय से धनुष टूटा। गुरुजी ने समय के तत्त्व को जाना। केवल लोगों को दिखाई दे रहा है कि मैंने तोड़ा। इसलिए मैं आपसे यही कहूँगा कि आपको जो प्रतीत हो रहा है, वह सही नहीं है।"

परन्तु इसमें अन्तिम संकेत है परशुराम जी के जीवन की धन्यता का! वे अपना धनुष, जिसे वे इतने दिनों से धारण किए हुए हैं, भगवान राम को दे देते है और वे उसे धारण करके बाद में उसी धनुष के द्वारा रावण का संहार करते हैं। बड़ी अनोखी बात है। रावण को मार सकनेवाला धनुष स्वयं परशुराम के पास भी था, लेकिन कैसी विचित्र बात है कि इतने दिनों तक उनके पास वह धनुष होते हुए भी रावण ज्यों-का-त्यों बना रहा। यह अन्तर दिखाई दे रहा है। उन्होंने महत्त्व धनुष को नहीं फरसे को दिया। धनुष वे रखते तो थे, पर केवल शोभा के लिए। इसलिए उन्होने अपना नाम भी पसन्द किया तो परशुराम ही। धनुषराम कहलाना पसन्द नहीं किया, न उनको किसी ने धनुषराम कहा। जब उनके पास धनुष भी था, तो उन्हें धनुषराम भी कह सकते थे। लेकिन नही, उन्हे

परशुराम ही क्यो कहा गया? परशुराम जी कहते थे – नही. सबसे अच्छा शस्त्र यह फरसा ही है। इसलिए जब भी व किसी को फरसा दिखाते तो यही कहते –

सहसबाहु भुज छेदनिहारा।
परसु बिलोकु महीपकुमारा।। १/२७२/८

लक्ष्मण जी से वे बोले – अरे लड़के, जरा इस फरसे की ओर देख ले, फिर मुझसे बात कर। फरसे के प्रति उनकी आसक्ति तीव्र थी। अब भगवान राम जहाँ पर धर्मरथ का वर्णन करते हैं, वहाँ पर परशु और धनुष की जो धार्मिक व्याख्या है, वह है – 'दान परसु' – दान फरसा है। और धनुष क्या है? – विज्ञान ही धनुष है –

दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा।
बर बिग्यान कठिन कोदंडा।। ६/८०/८

परशुराम जी के जीवन में दान के प्रति बड़ी महत्त्व-बुद्धि है। क्योंकि सारी पृथ्वी को उन्होंने पाया भी और वितरित भी कर दिया, दान कर दिया। पर परशुराम जी के सामने वही समस्या है, वे बार बार फरसे की ओर दिखाने की चेष्टा करते हैं। इसका अभिप्राय क्या है? उनकी प्रदर्शन की वृत्ति मिट नही पाई है। तो क्या वे शास्त्रों के पण्डित नही हैं? क्या उनको सारे महाकाव्य याद नही हैं? उनके पास धनुष भी है, विज्ञान उनके पास भी है, पर उसका समुचित उपयोग उन्होंने कभी नही किया। वे केवल यही दिखाने की चेष्टा करते रहे कि मैंने जीवन में कितने बड़े बड़े काम किए। वे ब्राह्मण हैं, परन्तु नाराज होकर कहते हैं –

निपटहिं द्विज करि जानहि मोही।
मैं जस बिप्र सुनावऊँ तोही।।
चाप स्त्रुवा सर आहुति जानू।
कोपु मोर अति घोर कृसानू।।
समिधि सेन चतुरंग सुहाई।
महा महीप भए पसु आई।।
मैं एहि परसु काटि बलि दीन्हें।
समर जग्य जप कोटिन्ह कीन्हें।।
मोर प्रभाउ बिदित नहिं तोरें।
बोलसि निदरि बिप्र के भोरें।। १/२८३/१-५

इसका सांकेतिक अभिप्राय क्या है? दान महानतम गुण है, पर महानतम गुण होते हुए भी समस्या तो बनी हुई है। दान लोभ का नाश करता है, मोह का नहीं कर सकता। वह भी एक बड़ी सफलता है। उसका भी महत्त्व है। गोस्वामी जी कलियुग का वर्णन करते हुए कहते हैं –

प्रगट चारि पद धर्म के कलि मँहु एक प्रधान।
जेन केन बिधि दीन्हें दान करइ कल्यान।। ७/१०३/ख

कलियुग के लिए तो सर्वश्रेष्ठ धर्म दान ही बताया गया है। इसमे कोई सन्देह नही कि दान के द्वारा समाज मे न जाने कितनी सेवा, न जाने कितनी दया, दुख और दारिद्र्य का निवारण होता है [illegible] की कितनी ही योजनाएँ है, उनमें दान का महानतम उपयोग होता है। लेकिन जीवन में यह जो अभिमान तथा मोह है, इसका नाश तो तब होगा, जब विज्ञान में स्थिति होगी और तभी जीवन में समग्रता आएगी। बहिरंग दृष्टि से भी बहुत-सी आन्तरिक समस्याओं का समाधान मिलेगा, पर रावण को मारने के लिए तो विज्ञान का धनुष ही चाहिए। रावण मूर्तिमान मोह है। मोह को मारने के लिए विज्ञान का धनुष होते हुए भी परशुराम जी ने उसका उपयोग नही किया। इसीलिए श्रीराम को देखते ही धनुष परशुराम जी के हाथ से भाग खड़ा हुआ। परशुराम जी ने उससे पूछा – तुम भागे क्यों? धनुष बोला – "महाराज, इतने दिनो तक आपने मुझे अपने पास रखा, पर उपयोग कभी किया नही। उपयोग किया तो फरसे का ही किया। अतः सोचा कि जिनके पास रहकर मेरा सदुपयोग होगा, वहीं चला जाऊँ।" और परशुराम जी को भी परम शान्ति कब मिली? जब वह धनुष उन्होंने श्रीराम को सौंप दिया और उन्होंने उसे स्वीकार कर [illegible]

तो यह धनुर्भग का प्रसंग बताता है कि वस्तुतः जीवन में शान्ति कैसे मिलती है? महाराज जनक को कब मिली? और शान्ति मिलने का क्या अर्थ है?

सीताजी तो श्रीराम की शक्ति हैं, पर उन्हें पाने के अगणित मार्ग हैं। यदि हमने शान्तिरूपा श्रीसीताजी को मातृरूप में पा लिया, जो अभीष्ट है, उसी रूप में हमने पा लिया।

इस प्रकार एक प्रक्रिया वह है। और यहाँ पर अंगद के प्रसंग मे गोस्वामी जी कहते हैं कि अंगद ने रावण को यह संकेत किया कि तुम स्वयं मूर्तिमान मोह के स्वरूप हो और तुम मोह को जड़ से उखाड़ फेंकने में कभी भी समर्थ नही हो। तुम न तो मोह को छोड़ पाए न अभिमान को। तुम मोह और अभिमान दोनों से मुक्त नही हो। इसका अर्थ है कि तुम सीताजी को पाने में सक्षम नही हो। और यदि तुममें इतनी क्षमता नहीं है, तो ऐसी स्थिति में तुम सीताजी को पाने के अधिकारी नही हो।

इसलिए यह जो अंगद के द्वारा पाद-रोपण है, यह मानो सीताजी को पाने की प्रक्रिया है। पर इसके साथ साथ गोस्वामी जी ने इसे भक्ति के सन्दर्भ में बड़े ही विलक्षण रूप में प्रस्तुत किया है। भक्ति के सन्दर्भ में अगर सीताजी मूर्तिमती भक्ति हैं, तो यह अंगद का चरण किस रूप में देखा जाय? और अंगद के चरण उठ जाने का क्या अर्थ है? अंगद जो यह कहते हैं कि यदि तुम मेरे पैर उठा दोगे तो मै सीताजी को हार जाऊँगा – इस दावे का अभिप्राय क्या है? इस साधना का स्वरूप क्या है, इसकी चर्चा आगे करेंगे।

❖ (क्रमशः) ❖

गीता का सन्देश

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - स.)

कुरुक्षेत्र की धर्मभूमि में युद्धोद्यत सेनाओं के समक्ष गीता का उद्‌गीरण हुआ। अर्जुन जब मोह में पड़कर अपना कर्त्तव्य भूल जाते हैं और अज्ञानवश एक ऐसी राह में जाना चाहते हैं, जो उनकी अपनी नहीं है, तब श्रीकृष्ण को गीता के रूप में सन्देश देने की आवश्यकता पड़ी। अतः गीता वह प्रेरणा है, जो विभ्रमित मानव को रास्ता दिखाती है, जो उसके यथार्थ कर्मपथ का स्मरण करा देती है। वह हमें ज्ञान के आधार पर संसार में खड़े रहने का मार्ग बताती है। जब हम जीवन की भूलभुलैया में भटक जाते हैं, उस समय वह मार्ग-प्रदर्शक बनकर आती है। जब हम आलस्य से अकर्मण्य बन जाते हैं, अथवा किसी प्रकार की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप अपने कर्त्तव्य कर्मों को छोड़कर दूर भाग जाना चाहते हैं, तब वह कर्म की प्रेरणा लेकर हमारे सामने उपस्थित होती है। इसीलिए गीता को योगशास्त्र भी कहा गया है। योगशास्त्र का तात्पर्य उस आध्यात्मिकता से है, जो केवलमात्र सैद्धान्तिक न हो, प्रत्युत जो जीवन में गतिशील हो सके, व्यावहारिक बन सके।

कई लोगों का मत है कि जो घर-बार छोड़कर संन्यासी बनना चाहते हैं, उन्हीं के लिए गीता पठनीय है, गृहस्थों के लिए नहीं। पता नहीं कि यह तर्क सर्वप्रथम किसने उपस्थित किया था। जिसने भी किया हो, उसने गीता का अध्ययन नहीं किया है। यदि गीता का उद्देश्य वही होता, तब अर्जुन को कृष्ण युद्ध करने के लिए क्यों प्रेरित करते? अर्जुन के मन में वैराग्य की भावना आई-सी लगती है। वे हाथ के कार्य को छोड़कर कहीं दूर जंगल में चले जाना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में कृष्ण उन्हें उत्साह प्रदान करते, उनका हौसला बढ़ाते। पर ऐसा तो कुछ दिखाई नहीं पड़ता, उल्टे उलाहना के स्वर में वे अर्जुन से कहते हैं - ऐसे विषम समय में यह कायरता क्यों? वे अर्जुन को तरह तरह से युद्ध के लिए प्रेरित करते हैं।

उनकी जो मुख्य सीख है, वह कुछ इस प्रकार है – मनुष्य को अपने कर्तव्य कर्म से नहीं डिगना चाहिए। कुछ परिस्थितियों के कारण यदि कोई व्यक्ति सहसा अपनी मनोवृत्ति को दूसरी दिशा में मोड़ने लगता हो, तो यह समझना चाहिए कि वह अपने स्वभाव के अनुरूप कर्म नहीं कर रहा है। इस प्रकार का कर्म ही परधर्म कहलाता है। मनुष्य यदि निष्ठा के साथ अपने कर्म में लगा रहे, तो धीरे धीरे उसे आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त होती जाती है। कोई भी कर्म अपने आप में ऊँचा या नीचा नहीं है, मनुष्य की दृष्टि ही कर्म को निम्न या उच्च बना देती है। हो सकता है, कोई कर्म बाहरी रूप से श्रेष्ठ दिखे, पर यदि उस कर्म को करनेवाला निम्न और विपरित भावों से भरा हो, तो वह कर्म उस व्यक्ति के सन्दर्भ में कभी भी उच्च नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार, हो सकता है कि कोई कर्म ऊपर से घृणास्पद मालूम पड़ता हो, पर यदि कर्ता का मनोभाव उच्च कोटि का है, तो वह कर्म श्रेष्ठ बन जाता है, भगवान् की पूजा का अग बन जाता है। गीता की भाषा में कहें तो वह एक यज्ञ बन जाता है। गीता की शिक्षा का निचोड़ यह है कि प्रत्येक कर्म को यज्ञस्वरूप बना लो। जिस प्रकार यज्ञ के लिए वेदी की आवश्यकता होती है, हवन-कुण्ड का प्रयोजन होता है, उसमें आहुतियाँ देनी पड़ती हैं, उस प्रकार का कुछ भी इस कर्म-यज्ञ में नहीं करना पड़ता। इसमें तो कर्ता का शरीर ही मानो वेदी है, ईश्वर का स्मरण ही हवन-कुण्ड है, और समर्पण-भाव ही आहुतियाँ हैं। जब हम ईश्वर को समर्पित करते हुए जीवन के कर्मों को करते हैं, तो वे कर्म हमें बाँध नहीं पाते। गीता में कहा गया है –

ब्रह्मणि आधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रं इव अम्भसा ॥

– अर्थात् तब हमारी स्थिति जल में रहनेवाले कमल के पत्ते के समान हो जाती है। कमल का पत्ता जल में रहता तो है, पर उससे लिप्त नहीं होता। उसी प्रकार हम ससार में रहते तो हैं, पर उससे लिप्त नहीं हो पाते। यह गीता की सबसे बड़ी सीख है। यही गीता का कर्मयोग है। ❑❑❑

जीने की कला (२४)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने युवको के लिए जीवन-निर्माण मे मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा मे एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी दो भागो मे निकला है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। अनुवादक हैं श्री रामकुमार गौड़, जो सम्प्रति आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र मे सेवारत है। – सं.)

अध्याय ३

अविश्वसनीय परन्तु सत्य

"अपने जन्म के पहले का मै नही जानता। अपनी मृत्यु के बाद के बारे में भी मैं नहीं जानता। इन दोनों के बीच की अवस्था में यदि मैं कहूँ कि 'मैं सब कुछ जानता हूँ।' तो यह कितनी हास्यास्पद बात है।" – *कनकदास*

"मनुष्य के अत्याचार से भयभीत होकर सत्य को विकृत मत करो।" – *रवीन्द्रनाथ ठाकुर*

"अपनी सामर्थ्य और ज्ञान के परे की चीजों के बारे में अपने अज्ञान को विनम्रतापूर्वक स्वीकार करो। उसी से ज्ञान की खिड़की खुल सकती है।" – *कन्फ्यूशियस*

"यह केवल विश्वास या अभिमत का विषय नहीं है। मैं निश्चित रूप से जानता हूँ कि मरने के बाद भी जीवन होता है।" – *डॉ. एलीजाबेथ कुबलर रोज*

"विज्ञान से अब तक अनछुए, विशेषकर अभौतिक क्षेत्र में, उसे (मनुष्य को) काफी कुछ सीखना है।"
– *जे. जी. फुलर*

"मुझे पूरा विश्वास है कि इस समय हम अनन्त मे निवास कर रहे हैं, परन्तु एक अजन्मे शिशु की तरह हम गहरी निद्रा मे हैं। कभी कभी कुछ शान्त क्षणों में हमे अनुभव होता है कि संसार जैसा दिखता है, वस्तुत: वैसा नहीं है। वास्तविक रूप से जाग्रत हो जाने पर हम यह पाते है कि अनन्त हमारे सम्मुख धुँधले रूप में व्याप्त है और हमारा अतीत सुस्पष्ट रूप से पीछे की ओर स्थित है।" – *डा. गुस्ताफ स्ट्रामबर्ग*

"हम इस संसार मे अपने कर्मो द्वारा आए हैं। जैसे हम अपने वर्तमान कर्मों का पूरा भण्डार लेकर यहाँ से जाते हैं, वैसे ही अतीत के कर्मो को साथ लेकर यहाँ आते हैं। जो चीज हमे बाहर निकालती है, वही हमे यहाँ लाकर बन्धन मे भी डालती है। हमें इस संसार में कौन-सी वस्तु ले आती है? – हमारे अतीत के कर्म। हमें इस संसार से कौन ले जाता है? इस संसार में किये हुए हमारे अपने ही कर्म। और इसी प्रकार हम आते-जाते रहते हैं।" – *स्वामी विवेकानन्द*

विचित्र किन्तु सत्य !

ऊपरी तौर से चमत्कार-जैसी दिखाई पड़नेवाली चीज सावधानीपूर्वक परीक्षण के बाद सत्य के रूप में स्वीकार की जाती है। यह सर्वदा, सर्वत्र और बारम्बार होनेवाली बात है। एक बालक एक प्रकाशमान बिजली के बल्ब को देखकर चकित हो सकता है, एक गतिमान बस को देखकर विस्मित हो सकता है, परन्तु एक वयस्क व्यक्ति जानता है कि बल्ब बिजली से जलता है और बस डीजल से चलती है। वयस्क व्यक्ति के लिए यह चमत्कार नहीं है। इसका अर्थ है कि चमत्कार व्यक्तिपरक या स्वानुभूतिमूलक होता है। ऐसे अनेक चमत्कार हमारे जीवन के अभिन्न अंग बन चुके हैं।

श्रीरामकृष्ण कहते थे – "एक व्यक्ति भेंड़-जैसी आवाज निकालता था और उसे सुनने के लिए लोगों की भीड़ जुट जाती थी। उसकी इस क्षमता पर सभी चकित रह जाते। एक बुद्धिमान व्यक्ति ने एक सचमुच की भेंड़ लाकर लोगों को उसकी आवाज सुनाई। परन्तु लोगों ने उसकी ओर ध्यान नहीं दिया।" लोग मुखौटे के पीछे छिपे सत्य को लेकर ही सन्तुष्ट रहते हैं। वे नकली वेष हटाकर उसके भीतर छिपे सत्य को खोजने का प्रयास नहीं करते। दर्शक एक जादूगर के जादुई कारनामों को देखकर विस्मित हो जाता है। यदि आप किसी जादूगर के सच्चे मित्र बन जाएँ, तो आपको पता लगेगा कि जादूगर का जादू चालाकीपूर्ण हाथ की सफाई मात्र है। यद्यपि चमत्कारी प्रभाव समाप्त हो जाय और उसकी चमक-दमक भी चली जाय, तो भी जादुई करतब देखने की इच्छा समाप्त नही होती। इस परिवर्तन का कारण जादूगर के करतबो में नही, अपितु दर्शक के दृष्टिकोण में है।

समुद्र में गोता लगानेवाले लोग ही मोती और कीमती रत्नों को खोज पाते है। गहराई से जाँच-पड़ताल करने पर जीवन और मृत्यु की चमत्कारिक घटनाएँ उनके पीछे निहित सत्य के प्रकट होने के समान ही साधारण प्रतीत होती हैं। यह हमें अपने जीवन के अतीत तथा भविष्य का बोध प्रदान करता है।

दृश्य और अदृश्य सत्य

क्या मनुष्य अस्थि, रक्त, मांस तथा स्नायुओ का संयोजन मात्र है? क्या शरीर के भीतर कोई चेतन तत्त्व है, जो इन सब से भिन्न हो तथा शरीर को भीतर से नियंत्रित करता हो? क्या शरीर इस चेतन तत्व के लिए एक बाह्य आवरण मात्र है?

यद्यपि हम जीवित और मृतक मनुष्य के बीच आसानी से भेद कर लेते हैं, तथापि जीवन और जीवित के बारे मे हमारी समझ गहरी और व्यापक नहीं है। जिसे हम 'जीवित' कहते हैं, वह भौतिक पदार्थों का एक संयोजन मात्र नही है। वनस्पति, पशु या मानव आदि कोई भी जीवित प्राणी, अपने पूरे जीवन काल में पर्यावरण से निरन्तर वायु तथा पोषण प्राप्त करने की सामर्थ्य रखता है और आवश्यक तत्त्वों को आत्मसात् करने एवं अनावश्यक तत्त्वों का उत्सर्जन करने की क्षमता भी रखता है। शरीर-क्रिया सम्बन्धी अत्यन्त जटिल प्रक्रियाएँ बड़े सुसंगत ढंग से और एक विशेष उद्देश्य से सम्पन्न होती हैं। श्वास-प्रश्वास, दिल की धड़कन, रक्त का संचरण, ग्रन्थियों से सम्बन्धित क्रियाएँ, पाचन, विलयन तथा मल-विसर्जन, ऊतकों का पुनर्नवीनीकरण, शारीरिक तापमान का सन्तुलन – ये सभी चीजें पूर्ण नियमितता और आवश्यकतानुसार घटित होती है। कुछ ही देर पहले जीवित और अब मृतक शरीर से वह स्वयं-प्रकाश तत्त्व चला जाता है, जो इन क्रियाकलापों के लिए जिम्मेदार था, जैसे बिजली चली जाने पर पंखा बन्द हो जाता है। अब प्रश्न यह है कि उस चले जाने वाले तत्त्व का स्वरूप क्या है? जब तक वह शक्ति क्रियाशील रहती है, तब तक शरीर के भीतर लाखों कोशिकाएँ पूर्ण निष्ठा और दक्षता के साथ अपना कार्य पूरा करती रहती हैं। परन्तु उस तत्त्व के लुप्त हो जाने पर सारे क्रिया-कलाप स्थगित हो जाते है और शरीर विकृत होने लगता है। जब तक मनुष्य जीवित रहता है, तब तक ये सभी क्रिया-कलाप ठीक ढंग से निरन्तर चलते रहते हैं। एक जीवित व्यक्ति कभी कभी इन क्रिया-कलापों के बारे में अवगत भी होता है। वह अतीत की घटनाओं का स्मरण कर सकता है, इच्छानुसार चयन कर सकता है और भविष्य की झलक भी पा सकता है। वह मृत्यु का पूर्वाभास तक पा सकता है। इस प्रकार मृत्यु एक ऐसी अवस्था है, जहाँ पहुँचकर वह चेतन तत्त्व भौतिक शरीर और मन को फिर से जीवित और क्रियाशील नहीं कर पाता। इस चेतन तत्त्व की उपस्थिति के कारण जब तक मन क्रियाशीलता के साथ चलता रहता है, तब तक हम इस अवयव को जीवित मानते हैं। यद्यपि यह सुस्पष्ट है कि यह चेतन तत्त्व भौतिक शरीर से भिन्न है, फिर भी वैज्ञानिक लोग जीवन के इस चेतन तत्त्व को अलग से पहचान नहीं सके हैं।

हमारे प्राचीन ऋषियों ने अस्थि, मांस तथा रक्त से निर्मित स्थूल भौतिक शरीर से पृथक् एक सूक्ष्म शरीर के अस्तित्व की अनुभूति की है। उन्होंने इसे 'सूक्ष्म शरीर' कहा है। यह 'लिंग शरीर' के नाम से भी जाना जाता है। भौतिक-शरीर की मृत्यु हो जाने पर भी यह सूक्ष्म शरीर रहता है। यह सूक्ष्म शरीर विद्युत् की भाँति एक पूर्ण चमत्कारिक तरीके से, स्थूल भौतिक शरीर के अत्यन्त जटिल क्रिया-कलापो को निर्देशित एवं नियंत्रित करने की क्षमता रखता है। अतीत काल में योगियों ने ध्यान के द्वारा इस सूक्ष्म शरीर के अस्तित्व की अनुभूति की थी। यह ऋषियों की कोई कल्पना-कथा नही, अपितु निजी अनुभव और अनुभूतिजन्य विश्वास था। यहाँ तक कि कभी कभी साधारण लोग भी इसकी सत्ता की अनुभूति कर सकते हैं। देहातीत अस्तित्व या देहातीत अनुभव, किसी मृत व्यक्ति की आत्मा का अन्य जीवित व्यक्ति के शरीर में देहान्तरण और किसी व्यक्ति पर अन्य आत्मा का 'आवेश' – ये बातें सभी देशों में, सभी कालों में और यहाँ तक कि आधुनिक युग मे भी देखने में आती रहती हैं। यद्यपि कुछ मामलों में, छल-कपट, कल्पना या अन्धविश्वास की सम्भावना हो सकती है, परन्तु एक निश्चित वास्तविक सत्ता के अस्तित्व को अस्वीकार नहो किया जा सकता। यदि हम इन सच्ची घटनाओं का अध्ययन करे, तो हमें इस स्थूल भौतिक शरीर से पृथक् एक तत्त्व (आत्मा) के अस्तित्व का पता चलता है। मानव जीवन पूरी तौर से शरीर तक ही सीमित नही है, इसका एक लोकोत्तर या आध्यात्मिक आयाम भी है।

भौतिक-विज्ञान सामान्यतया मस्तिष्क से पृथक् किसी मन के अस्तित्व को स्वीकार नही करता। परन्तु वैज्ञानिको ने कुछ घटनाओं का अध्ययन किया है और सत्य को जानने की चेष्टा भी की है। विशेषज्ञो ने अधोलिखित यथार्थ घटनाओ का परीक्षण तथा विश्लेषण किया है। आप भी इन चीजो के 'क्यो और कैसे' को समझने का प्रयास कर सकते हैं।

एक के भीतर दूसरा व्यक्ति

यहाँ एक व्यक्ति की सत्य कथा है जिसे हजारों लोगों ने प्रत्यक्ष देखा तथा उससे लाभान्वित हुए थे। वह न तो कोई महान् व्यक्ति या संन्यासी या ज्ञानी पुरुष था। वह ब्राजील का एक निर्धन कृषक था। बुद्धिजीवियों और वैज्ञानिको के लिए यह एक रहस्य की बात थी कि वह नाटकीय ढंग से कैसे एक कुशल शल्य चिकित्सक के रूप मे परिणत हो गया। उसने न तो औषधि-विज्ञान का अध्ययन किया था, न ही कोई औपचारिक प्रशिक्षण प्राप्त किया था। उसके द्वारा उपयोग मे लाए गये औजारो का निर्माण किसी आधुनिक कारखाने मे नही हुआ था। वह रसोई-घर के एक साधारण चाकू से असंख्य ऑपरेशन किया करता था। चाहे ऑख का मोतियाबिन्द हो, या शरीर के किसी भाग में दर्दनाक जलन हो, व्यक्ति के अंगो को बेहोश या संज्ञाशून्य किए बिना ही और बिना किसी दर्द के, शल्य-चिकित्सा के दौरान रोगी को पूरे होश मे रखकर, वह चाकू से कुशलतापूर्वक ऑपरेशन किया करता था।

उसके पास उपचार हेतु नित्य लगभग ३०० रोगी आया करते थे। उसका ऑपरेशन-कक्ष निहायत छोटा था, जिसमे मात्र एक मेज तथा एक कुर्सी थी। ब्राजील के सभी भागो से

लोग इस चमत्कारी चिकित्सक के उपचार से, रोगमुक्त होने के लिए आया करते थे। अन्धों को नेत्रज्योति मिल जाती, अपंग अपनी बैसाखियों को छोड़कर स्वाभाविक ढंग से चलने लगते थे। जिन अल्सर, ट्यूमर और संक्रमित ग्रन्थियों का विशेषज्ञ लोग पता तक नहीं लगा पाते थे, उन्हें वह अपने चाकू की मदद से कुछ ही मिनटों में निकाल देता था। फिर पल भर में ही वह दवा का नुस्खा भी दे देता। वह भोलेभाले ग्रामिणों की आँखों में धूल झोंकनेवाला कोई ओझा-शोखा नहीं था। रियो-डि-जेनिरो क्षेत्र के चिकित्सक, पॉलो विश्वविद्यालय के और मेडिकल अकेडमी ऑफ ब्राजील के चिकित्सक इस ऑपरेशन-प्रणाली की जाँच-पड़ताल करके स्तब्ध रह गए। यह जानकर वे चकित रह गए कि उसके सभी ऑपरेशन सफल थे। अमेरिका के सुख्यात चिकित्सक डॉ. पुहारिक ने ब्राजील के इस विचित्र सर्जन से अपना ऑपरेशन कराया और उसका फोटो खींचा। वे स्वयं इस सर्जन के असाधारण ऑपरेशन-कौशल के साक्षी बन गए। पर उसके द्वारा किए गए सैकड़ों ऑपरेशन उनके लिए एक अनसुलझी पहेली ही बने रहे।

उसका नाम था जी. एरिगो। वह एक निर्धन ग्रामीण था, जिसकी औपचारिक शिक्षा नगण्य थी। परन्तु उसका संवेदनशील हृदय लोगों के दु:ख-कष्टों को देखकर द्रवित हो जाता था। उसकी सेवा के पीछे यही प्रेरणा-शक्ति थी। १९५५ से १९७१ ई. में अपनी मृत्यु तक वह इस चमत्कारिक शल्य-उपचार को चलाता रहा। उसकी क्लिनिक का नाम था, 'नाजरेथ के प्रभु ईसा का आध्यात्मिक केन्द्र'। वह प्रात:काल ७ बजे वहाँ पहुँच जाता। तब तक लोग अपने उपचार हेतु वहाँ पंक्तिबद्ध होकर प्रतीक्षा करते रहते। प्रात:कालीन प्रार्थना करके जब वह ऑपरेशन के लिए तैयार होता, तब वह ग्रामीण नहीं रह जाता। तब वह डॉ. फ्रिट्ज का अवतार हो जाता था, और अपनी जर्मनी मिश्रित पुर्तगाली भाषा बोल सकता था। इसके पूर्व अपनी सामान्य अवस्था में वह जर्मन भाषा का एक शब्द भी नहीं जानता था, परन्तु अब वह उस भाषा में धारा-प्रवाह बातें करता था।

ईसाई पादरियों ने सोचा कि बिना किसी मेडिकल डिग्री या लाइसेंस वाले इस व्यक्ति द्वारा किया जानेवाला उपचार एक तरह का काला जादू है और उन्होंने उस व्यक्ति का विरोध किया। उसे कारागृह मे डाल दिया गया। उसका एकमात्र दोष यह था कि वह कानूनी अधिकार के बिना ऑपरेशन और चिकित्सीय उपचार किया करता था। उसे यह सब कार्य रोक देने को कहा गया। वस्तुत: वह उसे रोकने के लिए तैयार भी था। परन्तु वह पीड़ित और व्यथित लोगों के दुख देखकर उसे सहन नहीं कर पाता था, अत: वह उपचार करने को मजबूर हो जाता। फलस्वरूप उसे पुन: कारागार में डाल दिया गया। उसके उपचार से स्वस्थ हुए लोगों ने करुणार्द्र होकर आठ लाख चालीस हजार डॉलर की चन्दे की धनराशि एकत्र करके उसे उपहार-स्वरूप भेजा। परन्तु उसने वह धनराशि लौटा दी। उसने अपने रोगियों से एक पैसे की भी अपेक्षा नही की।

११ जनवरी, १९७१ को एक सड़क-दुर्घटना में उसकी मृत्यु हो गयी। उसकी अन्त्येष्टि-क्रिया में हजारों लोगों ने भाग लेकर उसे श्रद्धांजलि दी। उसका जीवन वृत्तान्त प्रसिद्ध अँग्रेजी मासिक 'रीडर्स डाइजेस्ट' (मई, १९७५) के पुस्तक खण्ड में सचित्र प्रकाशित हुआ था। यह हर किसी के लिए पठनीय है।

जब उससे उसकी चमत्कारिक शक्ति का रहस्य पूछा गया तो उसने इतना ही कहा था – "चिकित्सक जैसी वेशभूषा वाला एक व्यक्ति रात में प्राय: मेरे सम्मुख प्रकट होता था। वह अपने ही जैसे अन्य चिकित्सकों के साथ कुछ बातें करने के बाद शल्यक्रिया के लिए तैयार हो जाता था। बाद में उसने बताया, 'मैं डॉ. फ्रिट्ज हूँ। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान एक सर्जन के रूप में सेवा करते हुए मेरी मृत्यु हो गयी थी। पीड़ित लोगों की सेवा करने की मेरी तीव्र हार्दिक इच्छा है। अब मेरा भौतिक शरीर नहीं है। परन्तु मेरा व्यक्तित्व, मेरी स्मृति तथा सर्जन के रूप में मेरी दक्षता अभी भी यथावत् है। अत: मैं तुम्हारे शरीर को माध्यम बनाकर शल्यक्रिया और उपचार का निर्देश दूँगा।' "

जब डॉ. फ्रिट्ज का व्यक्तित्व एरिगो के भीतर आविर्भूत हो गया, तो एरिगो समझ नहीं पाता था कि वह कौन है और क्या कर रहा था। अपने वचन और व्यवहार में वह पूर्णतया उस मृत चिकित्सक के समान हो जाता था।

यह कोई काल्पनिक बात नहीं, अपितु एक सत्य घटना है, जिसे हजारों लोगों ने प्रत्यक्ष देखा। वैज्ञानिक और बुद्धिजीवी लोग इससे भ्रम मे पड़ गये और वे उस स्थिति का विश्लेषण करने लगे। तो फिर क्या यह सत्य है कि भौतिक शरीर के विनाश के साथ ही किसी का व्यक्तित्व, क्षमता, मनोवृत्तियाँ, पसन्द-नापसन्द और दक्षता समाप्त हो जाती है? ऐसी घटनाओं के सम्बन्ध में विशेषज्ञों की क्या राय है? उनके अध्ययनों के क्या परिणाम हैं?

क्या मृत्यु वस्तुत: सब कुछ समाप्त कर देती है? अथवा यह जीवन का अन्त नहीं, अपितु एक सोपान मात्र है? क्या इस विषय का सच्चा ज्ञान हमारी जीवन-चर्या में आमूल-चूल परिवर्तन ला सकेगा?

❖ **(क्रमश:)** ❖

(अगले अंक में मरणोपरान्त जीवन की कुछ सच्ची घटनाएँ)

कृतज्ञता का गुण

आचार्य विजय सुन्दर सूरि की पुस्तक 'दो कदम विस्मरण से स्मरण की ओर' से

दर्शन ! शायद तुझे एक बात ज्ञात न हो – **उपेक्षा का भाव या फरियाद-वृत्ति जीवन को बन्द कर देती है, जबकि धन्यवाद का भाव जीवन को खोल देता है ।** यह बात मैं तुझे इसलिए कह रहा हूँ कि आज करीब करीब हर घर में ऐसी ही परिस्थिति का निर्माण हुआ है कि उपकार लेने वाला अपने उपकारी को, कहीं भी, कभी भी धन्यवाद नहीं देता और कहीं थोड़ी-सी भी प्रतिकूलता महसूस होती है, तो फरियाद किए बिना नहीं रहता। मैं तुझसे ही पूछता हूँ – तेरी उम्र तीस वर्ष है न? आज तक मम्मी-पप्पा ने तुझ पर जो ढेर सारे उपकार किए हैं, उनके लिए तूने धन्यवाद अधिक बार दिए या उनकी ओर से तुझे कहीं कोई कमी महसूस हुई हो, तो फरियादें अधिक बार की हैं? तू जवाब दे या न दे, तेरे स्वभाव के आधार पर मैं कह सकता हूँ कि धन्यवाद देने का विचार तो तुझे कभी आया ही नहीं होगा और फरियाद करने का एक अवसर भी तूने छोड़ा नहीं होगा।

'आपने मुझे पढ़ा-लिखाकर तैयार किया' – इसके लिए धन्यवाद नहीं, परन्तु 'आपने मुझे व्यवसाय में आगे बढ़ने के लिए आवश्यक रकम नहीं दी' – इसके लिए फरियाद ! – 'आपने अपनी सुख-सुविधाओं को गौण बनाकर भी मेरी देख-भाल की' – इसके लिए धन्यवाद नहीं, परन्तु 'आपने मुझे आगे बढ़ने की स्वतन्त्रता नहीं दी' – इसके लिए फरियाद।

दर्शन ! अपनी डायरी में लिख रखना कि **धन्यवाद का स्थान फरियाद तभी ले सकती है, जब हृदय में से स्नेह व प्रेम का स्रोत बन्द हो गया हो ।** यदि स्रोत बहना जारी हो, तो उसमें फरियादों का कचरा बहे बिना नहीं रहता। उपकारी स्वयं अपने से हुई गल्ती या अपने से रह गयी क्षति को कबूल नहीं करते हैं, फिर भी आश्रित यह सुनने के लिए तैयार नहीं होता। तू चाहता है न कि मम्मी-पप्पा की ओर से तुझे प्रगट रूप में स्नेह मिलता रहे, तो इतना करने लग। जिन मम्मी-पप्पा ने तुझे दिल देने मे कोई कमी नही रखी, उन मम्मी-पप्पा के आगे धन्यवाद के शब्द बोलने के लिए होंठ बन्द मत रख और फरियाद के शब्द बोलने के लिए होंठ कभी मत खोल। तूने कल्पना भी न की होगी ऐसा सुन्दर परिणाम मिलेगा। पढ़ी हैं किसी कवि की ये पंक्तियाँ? –

जिसकी जीभ में मिठास, उसका हर दिल में निवास ।
जिसकी जीभ में जहर, उसका बैरी सारा शहर ।।

धन्यवाद के शब्द अमृत हैं तो फरियादी के शब्द विष हैं।

* * *

महाराजा साहेब ! मेरे बारे में आपका अनुमान एकदम सही है। मुझे याद नहीं आता कि मैंने कभी मम्मी-पप्पा के आगे धन्यवाद के शब्द बोले हों। आज तक फरियाद के शब्द ही बोलता आया हूँ। अपूर्णता का फरियाद, अपेक्षाभंग की फरियाद, अवगणना की फरियाद। हो सकता है कि मेरे ऐसे गलत अभिगम ने ही मम्मी-पप्पा को मेरी अवगणना करने को मजबूर किया हो। पर मेरे मन में यह सवाल उठता है कि सूर्य अपने स्वभाव से ही प्रकाश देता है, नदी अपने स्वभाव से ही बहती रहती है, वृक्ष अपने स्वभाव से ही छाया देते हैं।

संक्षेप में, यदि सूर्य-चन्द्र आदि धन्यवाद के शब्दों की अपेक्षा रखे बिना ही सिर्फ अपने स्वभाव से ही जगत् का उपकार करते हैं, तो फिर व्यक्ति को उपकार करने के बाद धन्यवाद के शब्द सुनने की अपेक्षा क्यों रखनी चाहिए?

* * *

दर्शन ! यह तू नहीं बोल रहा है, तेरे हृदय में अड्डा जमाए बैठा कृतघ्नता का भाव बोल रहा है। यह प्रश्न तेरा नहीं, तेरे मन में अड्डा जमाए बैठी विकृत बुद्धि का है। **क्या तू जानता है? इस देश ने सूर्य को नमस्कार किए हैं, नदी को माता, चन्द्रमा को 'मामा' और वृक्ष को जीवन माना है । इसका कारण है कृतज्ञता का गुण – बुद्धि की निर्मलता ।** उपकारकर्ता भले ही स्वभाव से उपकार करता हो, पर उपकार का भाजन बननेवाला इस उपकार को याद भी न रखे, उस उपकारी के प्रति अहोभाव से अपने दिल को भीगा भी न रखे, तो समझ लो कि वह पत्थर-दिल का प्रत्यक्ष प्रमाण है। तूने जो दलील उठाई है, इसका अमल तेरे स्वयं के जीवन में करके देखना।

तुझे पता चल जाएगा कि किये जानेवाले उपकार की कोई कद्र भी न करे, फिर भी उपकार की भावना टिकाए रखना, कोई मामूली बात नहीं। तुझे शायद पता न हो, परन्तु सच्चाई **यह है कि यह दुनिया आज थोड़ी-बहुत भी अच्छी दिखती हो, तो इसका श्रेय कृतज्ञता-गुण को जाता है ।** उपकार लेनेवाला, उपकार से लाभान्वित होनेवाला, यत्र-तत्र-सर्वत्र उपकारी के उपकार का धन्यवाद के शब्दों से अभिवादन ही करता चला आया है और इसी का परिणाम यह है कि उपकार करनेवाले के मन में उपकार करते ही चले जाने की भावना सदा बनी रहती है। शक्ति के अनुसार उपकार करना उन्होंने जारी ही रखा है। यदि यह उन्होंने बन्द कर दिया होता, तो?

दर्शन ! एक बात तू अपने दिल की दीवार पर खुदवाकर रखना कि **जिसके जीवन में कृतज्ञता नहीं, स्वयं पर हो रहे उपकारों को समझने की दृष्टि नहीं, उपकारी के प्रति अन्तर में कोई सद्भाव नहीं, वह इंसान करुणा का अधिकारी नहीं बन सकता ।** ❑❑❑

हितोपदेश की कथाएँ (१४)

('विग्रह' अर्थात् युद्ध नामक तीसरे भाग से आपने पढ़ा – कर्पूर द्वीप में पद्मकेलि नामक सरोवर में सभी जलचर पक्षियों का राजा हिरण्यगर्भ नामक राजहंस रहता था। जम्बु द्वीप में विध्य नाम के पर्वत पर रहनेवाले पक्षियों का राजा चित्रवर्ण नामक मोर उसे युद्ध की चुनौती देने के लिए तोते को दूत बनाकर भेजा। चुनौती स्वीकार कर ली गई और युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं। उधर राजा चित्रवर्ण मोर ने भी आक्रमण किया। आखिरकार युद्ध हुआ और अपने मंत्री गिद्ध की सहायता से चित्रवर्ण को विजय प्राप्त हुई। हिरण्यगर्भ राजहंस की जान बचाने के प्रयास में उसका मंत्री सारस मारा गया। चित्रवर्ण किले से मिली सारी धनराशि लेकर जयघोष के साथ अपनी राजधानी लौट गया। – सं.)

सन्धि

जब पुनः कथा प्रारम्भ हुई तो राजपुत्रों ने कहा – "भगवन्! हमने 'विग्रह' सुना। अब 'सन्धि' कहिए।" विष्णु शर्मा बोले – "सुनो, सन्धि भी कहता हूँ; इसका पहला श्लोक है –

वृत्ते महति संग्रामे राज्ञोः निहितसेनयोः।
स्थेयाभ्यां गृधचक्राभ्यां वाचा सन्धिः कृतः क्षणात् ।।

– 'बड़ा भारी संग्राम होने पर जब दोनों राजाओं की सेनाएँ नष्ट हो गयीं, तब (दोनों के प्रधानमंत्रियों) गिद्ध और चकवे ने मध्यस्थता करके बातचीत के द्वारा सन्धि कर ली।' "

राजपुत्रों ने पूछा – "यह कैसे हुआ?"

विष्णु शर्मा कहने लगे – "इसके बाद राजहंस ने पूछा, 'हमारे किले में आग किसने लगाई थी। किसी पराये ने या शत्रु से मिले हुए मेरे ही किले में रहनेवाले किसी व्यक्ति ने?"

चकवा बोला – "महाराज! अकारण ही आपका मित्र बना हुआ मेघवर्ण (कौआ) अपने परिवार समेत दिखाई नहीं पड़ता; इसलिए मैं समझता हूँ कि यह उसी की करतूत है।"

राजा ने क्षणभर सोचकर कहा – "ठीक है। यह मेरा दुर्भाग्य है। कहा भी है – 'यह अपराध भाग्य का है, मेरे मंत्रियों का नहीं। कभी कभी भलीभाँति सोचकर किया गया कार्य भी दैवयोग से बिगड़ जाता है।' "

मन्त्री बोला – "कहा भी है –

विषमां हि दशां प्राप्य दैवं गर्हयते नरः।
आत्मनः कर्मदोषांश्च नैव जानात्यपण्डितः ।।

– 'दुखदायी अवस्था में मनुष्य दैव को दोष देता है। वह मूर्ख अपने कर्मों में हुई भूलों को नहीं देखता।' और भी –

सुहृदां हितकामानां यो वाक्यं नाऽभिनन्दति ।
स कूर्म इव दुर्बुद्धिः काष्ठाद्भ्रष्टो विनश्यति ।।

– 'जो व्यक्ति शुभचिन्तक मित्रों की बात नहीं मानता, वह मूर्ख लकड़ी से गिरे हुए उस कछुए जैसा नष्ट हो जाता है। और –

रक्षितव्यं सदा वाक्यं, वाक्याद्भवति नाशनम्।
हंसाभ्यां नीयमानस्य कूर्मस्य पतनं यथा ।।

– 'मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी वाणी का संयम करे, क्योंकि बोलने से कभी कभी मृत्यु भी हो जाती है, जैसे कि दो हंसों द्वारा ले जाये जाते हुए वह कछुआ गिर पड़ा था।' "

राजा ने कहा, "वह कैसे?"

मंत्री कहने लगा –

कथा १

मगध देश में फुल्लोत्पल नामक एक सरोवर है। बहुत दिनों से वहाँ संकट और विकट नाम के दो हंस रहते थे। उनका मित्र कम्बुग्रीव कछुआ भी उसी तालाब में रहता था। एक बार धीवरों ने वहाँ आकर सलाह-मशवरा किया – "आज रात यहीं ठहरकर सुबह मछली तथा कछुओं आदि का शिकार करेंगे।" यह सुनकर कछुआ हंसों से बोला, "मित्र, धीवरों की बात सुन ली न? अब मैं क्या करूँ?" हंस बोले, "अभी विचार करो, जो उचित होगा, सबेरे किया जाएगा।" कछुए ने कहा – "नहीं, क्योंकि ऐसा करने से होनेवाली हानि को मैंने देखा है। और कहा भी तो है –

अनागत-विधाता च प्रत्युत्पन्नमतिस्तथा ।
द्वावेतौ सुखमेधेते यद्भविष्यो विनश्यति ।।

– अनागत-विधाता (आपत्ति आने के पूर्व ही उसका निराकरण सोचनेवाला) और प्रत्युत्पन्नमति (समयानुसार बुद्धि से काम लेनेवाला) – ये दोनों सुख से रहते हैं, परन्तु यद्भविष्य (जो होगा देखा जाएगा – ऐसा सोचनेवाला) नष्ट हो जाता है।"

हंस ने पूछा – "यह कैसे?"

कछुआ कहने लगा –

कथा २

आज से बहुत दिनों पूर्व इसी सरोवर में इसी प्रकार धीवरों के आने पर तीन मछलियों ने आपस में सलाह किया। उनमें से एक मछली का नाम अनागत-विधाता (पहले से ही उपाय करनेवाला) था। उसने कहा – "मैं तो दूसरे तालाब में जा रही हूँ।" यह कहकर वह दूसरे तालाब में चली गयी।

प्रत्युत्पन्नमति (तत्काल बुद्धि लगानेवाली) नाम की दूसरी मछली ने कहा – "भविष्य में होनेवाली घटना का कोई प्रमाण तो है नहीं, तो फिर मैं अभी से क्यों कहीं जाऊँ? समय आने पर जैसा उचित होगा किया जायेगा। कहा भी है – **उत्पन्नम् आपदं यस्तु समाधत्ते स बुद्धिमान्** – 'जो आई हुई विपत्ति का तत्काल समाधान कर लेता है, उसी को बुद्धिमान कहते हैं।'

अब तीसरी यद्भविष्य (जो होनेवाला है, होगा) नाम की तीसरी मछली कहने लगी –

यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा ।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयम् अगदः किं न पीयते ।।

– 'जो नहीं होना है, वह नहीं होगा और जो होना है, वह होकर ही रहेगा। क्यों न चिन्तारूपी विष को दूर करनेवाली इस औषधि को ही पीया जाय !'

सबेरे धीवरों द्वारा जाल डाले जाने पर उसमें फँसकर प्रत्युत्पन्न-मति मुर्दे के समान पड़ गयी, जिससे मछुओं ने उसे जाल में निकालकर बाहर फेंक दिया। मौका पाकर वह गहरे पानी में कूद गयी। किन्तु यद्भविष्य को मछुओं ने पकड़कर मार डाला। इसी से मैं कहता हूँ – 'अनागतविधाता' आदि।

कछुआ बोला – "इसलिए आप दोनों ऐसा कुछ कीजिए जिससे मैं किसी दूसरे तालाब में पहुँच जाऊँ।"

हंसों ने कहा – "ठीक है, तालाब में पहुँच जाओ तब तो बच जाओगे, लेकिन भूमि पर चलते समय कैसे रक्षा होगी?"

कछुए ने कहा – "ऐसा कोई उपाय कीजिए, जिससे मैं आप दोनों के साथ आकाश-मार्ग से जा सकूँ।"

हंसों ने कहा – "यह भला कैसे सम्भव हो सकता है?"

कछुआ बोला– "एक लकड़ी के दोनों छोरों को आप दोनों अपनी अपनी चोंच से पकड़ लें। मैं बीच में उस लकड़ी को पकड़कर लटकता हुआ आप लोगों के पंखों की सहायता से मजे में चला चलूँगा।"

हंस बोले – "यह उपाय तो अच्छा है। परन्तु –

उपायं चिन्तयन्प्राज्ञो ह्यपायमपि चिन्तयेत् ।
पश्यतो वकमूर्खस्य नकुलैः भक्षिताः प्रजाः ।।

– 'बुद्धिमान को चाहिए कि वह उपाय के साथ साथ उससे सम्भावित हानि पर भी विचार कर ले, क्योंकि उस मूर्ख बगुले की आँखों के सामने ही नेवलों ने उसके सब बच्चे खा लिए।'

कछुए ने पूछा – "वह कैसे?"

वे दोनों कहने लगे –

कथा ३

यहाँ से उत्तर के देश में गृध्रकूट पर्वत पर एक बहुत बड़ा पीपल का वृक्ष था। उस पर बहुत-से बगुले रहा करते थे। उसी वृक्ष के नीचे बिल में रहनेवाला सर्प उन बगुलों के बच्चों को खा जाता था। एक दिन शोक से व्याकुल उन बगुलों का विलाप सुनकर एक वृद्ध बगुले ने कहा – "तुम लोग एक काम करो – ढेर सारी मछलियाँ लाकर उन्हें नेवले के बिल से लेकर साँप के बिल तक बिछा दो। आहार के लोभ से नेवले बिल तक पहुँच कर साँप को देख लेंगे और अपनी सहज शत्रुता के कारण उसे मार डालेंगे।"

बगुलों ने ऐसा ही किया और इस उपाय से साँप मार डाला गया। इसके बाद नेवलों ने उस वृक्ष पर बगुलों के बच्चों का कलरव सुना, तो वे वृक्ष पर चढ़ गए और उन्हें भी खा गए। इसी से हम कहते हैं – उपाय सोचकर आदि।

"हम दोनों द्वारा तुमको ले जाये जाते देखकर (धरती के) लोग कुछ-न-कुछ कहेंगे ही। वह सुनकर यदि तुम उत्तर देने लगोगे, तो गिरकर मर जाओगे। इसलिए तुम यहीं रहो।"

कछुए ने कहा – "क्या मैं मूर्ख हूँ? मैं कुछ भी उत्तर नहीं दूँगा और जरा भी नहीं बोलूँगा।"

इस प्रकार विशेष आग्रह करने पर दोनों हंस उसे लकड़ी पर लटकाकर ले चले। कछुए को (आकाश-मार्ग से जाते) देखकर कुछ चरवाहे (कुतूहलवश) उनके पीछे पीछे दौड़े और तरह तरह की बातें कहने लगे। एक बोला – यदि यह कछुआ गिर पड़े, तो अभी हम इसे भूनकर खा लें। दूसरे ने कहा – तालाब के किनारे भूनकर खाया जायेगा। किसी अन्य ने कहा – नहीं जी, इसे घर ले जाकर खाना ठीक रहेगा। उनकी बातें सुनकर कछुए को क्रोध आ गया। वह पहले की हुई अपनी प्रतिज्ञा को भूलकर बोल उठा – "तुम लोग राख खाओगे।" इतना कहते ही वह गिर पड़ा और ग्वालों ने उसे मार डाला। इसी से मैं कहता हूँ – शुभचिन्तक मित्रों की बातें आदि।"

इसके बाद प्रधान गुप्तचर बगुले ने आकर राजहंस राजा हिरण्यगर्भ से कहा – "स्वामी, मैंने पहले ही कह दिया था कि प्रतिक्षण किले की देखभाल करिएगा। सो आपने नहीं किया। उसी भूल का यह परिणाम है। (शत्रुपक्ष के मंत्री) गिद्ध द्वारा नियुक्त उस मेघवर्ण कौए ने ही आग लगायी थी।"

राजा ने लम्बी साँस लेकर कहा – "प्रेम के कारण या उपकार के वशीभूत होकर जो शत्रु पर विश्वास कर लेता है, मानो वृक्ष की चोटी पर सोते सोते वहाँ से नीचे गिरकर ही उसे होश आता है।"

गुप्तचर बोला – "मेघवर्ण जब किले में आग लगाकर लौटा, तब उसके राजा चित्रवर्ण ने प्रसन्न होकर कहा कि इसे इस कर्पूर द्वीप का राजा बना दिया जाय। कहा भी है –

कृतकृत्यस्य भृत्यस्य कृतं नैव प्रणाशयेत् ।
फलेन मनसा वाचा दृष्ट्या चैनं प्रहर्षयेत् ।।

– 'भलीभाँति कार्य को पूरा करनेवाले सेवक को भूले नहीं। उसे कुछ देकर, मन, वचन तथा कृपादृष्टि से प्रसन्न करे।'

महामंत्री चकवा बोला – "महाराज, गुप्तचर ने जो कुछ कहा है, उसे आपने सुन लिया न !"

राजा राजहंस ने कहा – "उसके बाद आगे क्या हुआ?"

दूत बोला – "तब प्रधानमंत्री गिद्ध ने कहा, 'स्वामी, यह उचित नहीं है। इसे कोई दूसरा पुरस्कार दीजिए।

अविचारयतो युक्तिकथनं तुषखण्डनम् ।
नीचेषूपकृतं राजन्वालुकास्विव मूत्रितम् ।।

– 'क्योंकि बिना विचारे कुछ कहना, भूसी कूटना और नीचों का उपकार करना बालू पर मूत्रत्याग करने के समान व्यर्थ है ।'

"बड़ों के स्थान पर नीच को कभी भी नियुक्त नहीं करना चाहिए । कहा भी है –

नीचः श्लाघ्यपदं प्राप्य स्वामिनं हन्तुमिच्छति ।
मूषिको व्याघ्रतां प्राप्य मुनिं हन्तुं गतो यथा ।।

– 'नीच व्यक्ति (अपने स्वामी की कृपा से) किसी उच्च पद पर पहुँच जाने पर अपने स्वामी को ही मारने को उद्यत हो जाता है । जैसे कि मुनि की कृपा से बाघ बना हुआ वह चूहा मुनि को ही मारने के लिए तैयार हो गया था ।' "

चित्रवर्ण ने पूछा – "यह कैसे?"

मंत्री कहने लगा –

कथा ४

महात्मा गौतम के पुनीत तपोवन में महातपा नाम के एक ऋषि रहते थे । एक दिन उन ऋषि ने एक कौए को चूहे का बच्चा ले जाते देखा । सहसा वह उसकी चोंच से छूटकर गिर पड़ा । ऋषि ने उसे चावल के दाने खिलाकर पाला-पोसा ।

एक दिन एक बिल्ली उस चूहे को खाने के लिए झपटी । उसे देखकर चूहा मुनि की गोद में घुस गया । इस पर ऋषि ने कहा – "चूहे, अब तुम बिल्ली बन जाओ ।"

बिल्ली हो जाने के बाद वह कुत्तों को देखकर भागने लगा । तब ऋषि ने कहा – "तुम कुत्ते से डरते हो? तुम भी कुत्ते हो जाओ ।" अब वह कुत्ता होकर बाघ से डरने लगा । इसके बाद उन ऋषि ने उसे कुत्ते से बाघ भी बना दिया ।

ऋषि तो अब भी उसे चूहा ही समझते थे । उस चूहे को बाघ बना हुआ देखकर लोग आपस में कहते कि इन मुनि ने इस चूहे को बाघ बना दिया है । यह सुनकर बाघ सोचने लगा – जब तक ये मुनि हैं, तब तक मेरा अपयश दूर नहीं होगा । ऐसा सोचकर वह उन मुनि को ही मारने गया ।

मुनि को यह बात ज्ञात हो गयी और उन्होंने – "तुम फिर चूहे हो जाओ" – कहकर उसे फिर चूहा बना दिया । इसी से मैं कहता हूँ कि नीच किसी उच्च पद पर पहुँचकर आदि । और फिर जो इसे राजा बनाने की सोच रहे हैं, वह भी आसान नहीं है । सुनिए – 'उत्तम, मध्यम और अधम बहुत-सी मछलियों को खाने के बाद बगुला अति लोभ करने के कारण एक केकड़े के हाथों मारा गया था ।' "

चित्रवर्ण ने पूछा – "यह कैसे?"

मंत्री कहने लगा –

कथा ५

मालवा प्रान्त में पद्मगर्भ नाम का एक सरोवर है । वहाँ एक शक्तिहीन बूढ़ा बगुला आकुल-सा भाव लिए बैठा हुआ था । एक केकड़े ने दूर से ही देखकर उससे पूछा – "क्यों भाई, आप खाना-पीना छोड़कर चुपचाप क्यों बैठे हैं?"

बगुला बोला – "मछलियाँ ही मेरी जीविका हैं । गाँववालों के मुख से मैंने सुना कि कल मछुए आकर उन्हें पकड़ लेगे । इस प्रकार मेरे जीवन का आधार ही नष्ट हो जाने पर मेरा मरना निश्चित ही है । यही सोचकर मैंने भोजन त्याग दिया है ।"

मछलियों ने विचार किया – "इस समय तो यही हमारा बड़ा उपकारी प्रतीत होता है, तो चलो, इसी से अपने उद्धार का उपाय पूछें । कहा भी है –

उपकर्त्राऽरिणा संधिर्न मित्रेणापकारिणा ।
उपकारापकारौ हि लक्ष्यं लक्षणमेतयोः ।।

– 'उपकार करनेवाले शत्रु से भी सन्धि कर लेनी चाहिए । अपकार करनेवाले मित्र से नहीं । वास्तव में शत्रु-मित्र का लक्षण उपकार और अपकार ही है ।'

अब मछलियों ने पास जाकर कहा – "क्यों भाई बगुले ! हमारी रक्षा का क्या उपाय है?"

बगुला बोला – "उपाय तो है और वह यह कि इस तालाब को छोड़कर किसी दूसरे तालाब में भाग जाओ । सो एक एक करके मैं तुम सबको वहाँ पहुँचा दूँगा ।"

मछलियों ने कहा – "ठीक है, ऐसा ही करो ।"

अब बगुला एक एक करके उन्हें ले जाकर खाने लगा ।

एक केकड़े ने कहा – "भाई बगुले, जहाँ सब मछलियों को ले गए हो, मुझे भी वहीं ले चलो ।"

बगुला बहुत दिनों से केकड़े के मांस का इच्छुक था । इसलिए वह तुरन्त उसे ले उड़ा और जमीन पर ले जाकर रखा । मछलियों के काँटों से भरे हुए उस स्थान को देखकर केकड़ा सोचने लगा – "हाय, मुझ अभागे को तो अब मरना पड़ेगा । ठीक है, अब समयोचित कुछ उपाय करना चाहिए ।"

तावद्भयेन भेतव्यं यावद्भयमनागतम् ।
आगतं तु भयं दृष्ट्वा प्रहर्त्तव्यमभीतवत् ।।

– 'भय से तभी तक डरना चाहिए जब तक कि वह सामने न आ जाय; भय के पास आ पहुँचने पर निडर होकर उस पर प्रहार करना चाहिए ।' और 'शत्रु द्वारा आक्रान्त व्यक्ति जब अपनी रक्षा का दूसरा कोई उपाय न देखे, तो शत्रु के साथ युद्ध करते हुए मर जाने में ही उसकी बुद्धिमानी है ।'

ऐसा विचार कर उसने बगुले का गला काट दिया । जिससे बगुला मर गया । इसी लिए मैं कहता हूँ, उत्तम, मध्यम और अधम बहुत-सी मछलियाँ खाकर आदि । ❖ **(क्रमशः)** ❖

वर्तमान का सदुपयोग

स्वामी सत्यरूपानन्द

यदि आपका आज अर्थात् वर्तमान का चिंतन, शुभ और उदात्त है, कर्म अच्छे और परोपकारी हैं, तो आपका आज का जीवन शुभ, सुन्दर और आनंदमय होगा । इतना ही नहीं आपके आगामी कल का जीवन भी सुन्दर और सुखी होगा। गत कल के बिगड़े हुए कर्म की क्षतिपूर्ति भी हो जायेगी।

वर्तमान के सदुपयोग में ही जीवन की सफलता है, सिद्धि है, सुख है, सार्थकता है। कई बार मन में प्रश्न उठता है ऐसा क्यों है? ऐसा इसलिये है कि संसार के सभी कार्य समय के भीतर ही होते हैं। संसार समय में ही अवस्थित है। समय के बाहर कुछ भी नहीं है। समय ही जीवन है, संसार है; और हम सभी जानते हैं कि समय न तो भूतकाल में होता है और न भविष्य में समय केवल वर्तमान में ही है।

भूत स्मृति है और भविष्य कल्पना। कल्पना और स्मृति केवल मानसिक जगत का कार्य है जीवन का यथार्थ नहीं, यथार्थ तो वर्तमान ही है। जीवन के यथार्थ कार्य वर्तमान में ही किये जा सकते हैं । अतः जीवन में जो भी करना है उसे वर्तमान में ही आरभ करना होगा। ऐसा होने पर जीवन सक्रिय और गतिशील हो उठता है; और हम यह देखते हैं, अनुभव करते हैं कि जीवन वृक्ष का फल सक्रियता एवं गतिशीलता की शाखाओं में ही लगता है । यहाँ एक व्यावहारिक प्रश्न आता है कि वर्तमान का उपयोग कैसे करें? हमें समय के स्वभाव को ठीक-ठीक समझ लेना होगा समय की जिस ईकाई से हम साधारणतः परिचित हैं, वह है – क्षण या सेकण्ड, इससे बड़ी ईकाई है मिनट । मिनट से हम सब भलीभाँति परिचित हैं तथा हम सभी दैनंदिन जीवन में उसका उपयोग भी करते हैं। पर बड़े आश्चर्य की बात है कि हमारा ध्यान प्रायः मिनट की ओर नहीं जाता तथा हम समय को घटों, दिनों, सप्ताहों, महीनों और वर्षों में पकड़ते हैं । हम प्रायः सोचा करते हैं कि २ घंटे में कोई पुस्तक पढ़ लेंगे या कोई पत्र अथवा लेख आदि लिख लेंगे । अगले दिन से या अगले सप्ताह से स्वास्थ्य सुधार के लिये व्यायाम प्रारंभ करेंगे। अगले महीने से किसी विषय विशेष का अध्ययन प्रारभ कर देंगे, अगले वर्ष अमुक कार्य या व्यवसाय में लग जाएँगे आदि।

यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि भविष्य की ये योजनायें तो ठीक हैं, पर इन सभी योजनाओं के लिये वर्तमान में हम कुछ अवश्य कर सकते हैं । हमारे भविष्य की सभी योजनाओं की सफलता हमारे वर्तमान की तैयारी पर निर्भर करती है। भविष्य की सभी योजनाओं का उत्स वर्तमान ही होता है । वर्तमान में हम अपने जीवन को जितना अधिक सयत, व्यवस्थित तथा सुनियोजित करेंगे, भविष्य के कार्य के लिये हम उतने ही अधिक योग्य हो सकेंगे एव उतनी ही हमारे भविष्य की योजनाओं की सफलता की संभावना भी होंगी तथा हम सफल और कृतार्थ भी हो सकेंगे। समय वर्तमान में ही होता है, अतः समय को पकड़ने के लिये, उसका सदुपयोग करने के लिये, सर्वप्रथम हमें समय के सबंध में जागरुक होना चाहिये। समय का सदुपयोग हम इसीलिये नहीं कर पाते कि हम उसके सबंध में सावधान तथा जागरूक नहीं होते हैं। हमें प्रायः समय के बीतने का ध्यान ही नहीं रहता, जिसके कारण हमारा अधिकाश समय व्यर्थ के कार्यों या आलस्य प्रमाद, आदि में ही व्यतीत हो जाता है और हम उस समय का लाभ नहीं ले पाते। अस्तु, समय के सबंध में जागरूक रहना होगा।

समय को पकड़ने का, उसका सदुपयोग करने का सहज और श्रेष्ठ उपाय है – २४ घंटे का एक दैनिक कार्यक्रम बना लेना। यह कार्यक्रम हर व्यक्ति को अपनी अपनी परिस्थिति, सुविधा, आदि के अनुसार बनाना होगा। मुख्य बात है सोच-विचारकर अपने लिये एक ऐसी दिनचर्या बना लेना जिसका पालन करना सहज ही सभव हो । इस दिनचर्या में अपनी नौकरी, व्यवसाय, कार्य आदि के अनुसार अपने सभी कार्यों के लिये समय निर्धारित कर लेना चाहिये। समय निर्धारण में कार्यों की प्राथमिकता की ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अपनी आवश्यकता तथा सुविधा के अनुसार प्राथमिकता निर्धारित करना होता है। उसी क्रम में प्रत्येक कार्य के लिये समय निर्धारित करना होगा।

समय का सदुपयोग करने के लिये दिनचर्या का प्रारभ सुबह उठने से करना चाहिये । वस्तुतः हमारे जीवन में समय का प्रारंभ ही तब होता है, जब हम सोकर उठते हैं तथा अपने विभिन्न दैनिक कार्यों में लग जाते हैं। अतः दिनचर्या का प्रारभ प्रातः उठने से करें। उठने से रात सोते तक हर कार्य के लिये समय निर्धारित कर लें, तथा क्रमवार हर कार्य करते चलें। यहाँ तक कि खान-पान, सैर-सपाटे, मनोरजन, आमोद-प्रमोद आदि सभी कार्यों के लिये एक समय निर्धारित कर लें, तथा उसके अनुसार कार्य करें। इस प्रकार कार्य करने पर हम समय का अधिक से अधिक उपयोग कर सकेंगे, तब हमारे पास सभी आवश्यक कार्य करने का समय रहेगा। हमारे सभी कार्य सुव्यवस्थित व सुन्दर होगे । हमारा वर्तमान सुख व शान्तिपूर्ण होगा। जीवन की सफलता का यही रहस्य है। ❑

हिन्दुत्व : एक जीवन-पद्धति

स्वामी आत्मानन्द

'हिन्दुत्व क्या है?' – यह प्रश्न बार बार चिन्तकों और विचारकों द्वारा पूछा गया और उत्तरित हुआ है। क्या यह एक अर्थहीन थोथा नाम ही मात्र है, जैसा कि कुछ लोगों का मत है? या क्या यह मत-मतान्तरों की अधपकी खिचड़ी है? या कि अजीबो-गरीब कर्मकाण्डों का एक बेहूदा मिश्रण है? या कि मात्र यह एक भौगोलिक अभिव्यक्ति, या महज एक मानचित्र है?

डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् अपने ग्रन्थ 'हिन्दुओं का जीवन-दर्शन' में यह प्रश्न पूछते हुए कहते हैं कि यदि हिन्दू धर्म का कोई नियम है, तो वह युग युग में, समाज समाज में बदलता रहा हैं। वैदिक काल में यदि यह कुछ था, तो ब्राह्मण काल में कुछ दूसरा हो गया और बौद्ध काल में कुछ तीसरा ही। शैवों के लिए इसका अर्थ कुछ और है, तो वैष्णवों के लिए कुछ दूसरा और शाक्तों के लिए कुछ तीसरा। उनके मत से 'हिन्दू' शब्द सिन्धु नदी के दक्षिणी तट पर बसनेवाले सभी सम्प्रदायों के लोगों का सामान्य अभिधेय है, जो फारसियों से उन्हें प्राप्त हुआ है। यह एक भौगोलिक परिचायक है, धर्मात्मक नहीं।

हिन्दुत्व का यह लचीलापन ही उसकी जीवन-पद्धति है और यह जीवन-पद्धति ही उसका जीवन रस है। उसके इस लचीले स्वरूप को न समझ पानेवाले लोग उसके सम्बन्ध में ऐसी धारणा का पोषण करते हैं कि वह कोई उस प्रकार का धर्म नहीं है, जैसे दुनिया के अन्य धर्म हैं। अब, यह सही है कि हिन्दू धर्म उस अर्थ में 'रिलीजन' नहीं है, जिस अर्थ में ईसाइयत – क्रिश्चियनिटी – एक 'रिलीजन' है। वह उस अर्थ में 'मजहब' भी नहीं है, जिस अर्थ में 'इस्लाम' एक मजहब है। वह तो सही अर्थों में सस्कृत भाषा के 'धर्म' शब्द को ध्वनित करता है।

'धर्म' शब्द सस्कृत की 'धृ' धातु से निकला है, जिसका अर्थ होता है – धारण करना। अतः धर्म शब्द से वह शक्ति ध्वनित होती है, जो अलग-अलग इकाइयों को जोड़ती है। हिन्दू धर्म ने ठीक यही किया है। उसने विभिन्न मानव-इकाइयों को जोड़ने का कार्य किया है – वह विभिन्न मानव रूप मनकों में पिरोये गये सूत्र के समान है। हिन्दू धर्म की उपमा शरीर से दी जा सकती है, जिसके सनातनी, शाक्त, शैव, गाणपत्य, जैन, बौद्ध, सिख, आर्यसमाज आदि अलग-अलग अग-उपाग हैं। समय-समय पर विभिन्न अगों के नये-नये नाम बनते रहते हैं और काल-प्रवाह से कुछ पुराने नाम मिट जाते हैं। पर वे सब-के-सब उसी एक शरीर के अंग हैं। उसका यह लचीलापन ही है, जिसने आधे ससार को अपने प्रभाव के दायरे में बाँधकर रखा था। यही कारण है कि **चीन और जापान, तिब्बत और स्याम, बर्मा और लंका – सब भारत को अपना आध्यात्मिक घर मानते रहे हैं।** हिन्दू धर्म का इतिहास कोई आज का नहीं है, वह पाँच हजार वर्ष से भी अधिक पुराना है, जिसकी धारा समय समय पर मन्द और प्रायः अवरुद्ध होते हुए भी आज तक अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती चली आ रही है। हिन्दू धर्म ने अपने ऊपर जितने आक्रमण झेले हैं, उतने ससार के और किसी धर्म ने नहीं। भारत की एक हजार साल की गुलामी में हिन्दू धर्म को सब प्रकार से रौंदकर नष्ट कर देने की कोशिशें की गयीं, पर उसके भीतर ऐसा कुछ है, जिसने उसे मिटने नहीं दिया। जहाँ विश्व के अन्य कई राष्ट्र कुछ वर्षों की गुलामी में ही दुनिया के नक्शे से मिट गये, हमारा यह भारत देश खण्डित होता हुआ भी आज अजेय होकर खड़ा है। इसका कारण यह है कि भारत का धर्म, जिसे विश्व ने हिन्दू धर्म कहकर पुकारा, चार या पाँच सहस्राब्दियों के आध्यात्मिक विचारों और अनुभूतियों की भट्ठी में तपकर खरा निकला है। यद्यपि इतिहास के प्रारम्भ से विभिन्न जातियों और सस्कृतियों के लोग भारत में आते रहे हैं, पर हिन्दू धर्म अपनी प्रधानता बनाये रखने में समर्थ रहा है। यहाँ तक कि ऐसे दूसरे धर्म भी, जिन्हें राजशक्ति का सहारा था, दबाव डालकर बहुत सख्या में भारतीयों को अपने मत में दीक्षित नहीं कर सके। हिन्दू सस्कृति में कुछ ऐसी प्राणशक्ति है, जो स्वभावतः दूसरे अधिक शक्तिशाली प्रवाहों में भी नहीं है। डॉ. राधाकृष्णन् के मत में, हिन्दू धर्म की इस प्राणशक्ति की परख-पड़ताल करना उसी तरह अनावश्यक है, जिस तरह लहलहाते वृक्ष को फाड़कर यह देखना कि उसके भीतर रस का सचार हो रहा है या नहीं।

हिन्दू धर्म को यह प्राणशक्ति अपनी जीवन-पद्धति से मिली है। यह जीवन-पद्धति चार स्तम्भों पर खड़ी है। पहला स्तम्भ कहता है कि जीवन का एक निश्चित लक्ष्य है और वह है सत्य या ब्रह्म। इस लक्ष्य को अन्य अनेक नामों से भी पुकारा गया है। दूसरा स्तम्भ कहता है कि इस लक्ष्य को पाना ही मानव-जीवन का चरम उद्देश्य है। अतः मनुष्य को अपनी जीवन-सरचना ऐसी करनी चाहिए, जिससे वह इस लक्ष्य को पा सके। तीसरा स्तम्भ कहता है कि जीवन-संरचना में नारी का वही स्थान है, जो नर का। नर और नारी, पक्षी के दो डैनों के समान हैं। यदि दोनों डैने समान रूप से स्वस्थ और बली हों, तभी पक्षी उड़ पाता है, अन्यथा वह फड़फड़ाने लगता है। चौथा स्तम्भ कहता है कि इस

लक्ष्य को पाने के अनन्त पथ हो सकते हैं, इसलिए कभी पथ को लेकर विवाद नहीं करना चाहिए। हम अपने पथ पर चलें और यदि दूसरे के लिए सहायता का हाथ बढ़ा सकते हों तो बढ़ाएँ, पर यदि न बढ़ा सकते हों तो शुभ कामनाएँ दें, पर निन्दा के शब्द तो अधरों पर न लाएँ। ईश्वर असीम है और मनुष्य का मन सीमित। इसलिए कोई भी मत-सम्प्रदाय ईश्वर को समग्र और निर्दोष रूप से जानने का दावा नहीं कर सकता। जो सम्प्रदाय ऐसा करते हैं, वे अपनी बुद्धि का ओछापन ही प्रकट करते हैं।

हिन्दू जीवन-पद्धति का यह विलक्षण उदारता रूप जो चौथा स्तम्भ है, वह एक ओर जहाँ उसकी कमजोरी के रूप में देखा जाता है, वहीं दूसरी ओर वह उसकी अजेय शक्ति भी है। कमजोरी इस अर्थ में कि उसने गोरी जैसे निर्मम, हृदयहीन लुटेरों के साथ भी सदाशयता का व्यवहार किया, और अजेय शक्ति इस अर्थ में कि उसने भिन्न भिन्न इकाइयों को एक सूत्र में गूँथकर, उसे बिखरकर नष्ट होने से बचा लिया। उसकी इस जीवन-पद्धति ने उसे आघातों को सहने की शक्ति प्रदान की। उसने कभी ऐसी घोषणा नहीं की कि मेरा ईश्वर ही एकमात्र सच्चा ईश्वर है, या यह कि मेरा पैगम्बर या मसीहा ही एकमात्र पैगम्बर या मसीहा है, या यह कि मेरा धर्मग्रन्थ ही एकमात्र ईश्वर की किताब है और दूसरों के धर्मग्रन्थ थोथे कहानी-किस्से हैं। धर्म के क्षेत्र में कट्टरता का सूत्रपात इस धारणा से होता है कि धर्मपरायणता आप्त वाक्यों के प्रति आँख मूँदकर श्रद्धा रखने को ही कहते हैं। और ऐसी धारणा, डॉ. राधाकृष्णन् के मत से यूरोप में ईसाई धर्म शास्त्र द्वारा आचरित मार्ग के दुर्भाग्यपूर्ण उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुई है। यही कट्टर धारणा इस्लाम का भी आधार बनती है। इसके फलस्वरूप विश्व ने धर्म के नाम पर खून का दरिया बहता देखा है। इतना खून बहाकर भी क्या मजहबों के मनसूबे पूरे हुए? यूरोप और पश्चिम एशिया का इतिहास कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेंट और शिया तथा सुन्नी की लड़ाइयों का रक्तरंजित इतिहास है।

हिन्दू धर्म ने मतवादों के इन झगड़ों को एक अनूठे ढग में सुलझाने की चेष्टा की है। यह अनूठा ढग हिन्दुओं की जीवन-पद्धति है, जिसमें उन समस्त चिन्तन-सरणियों के लिए स्थान है, जो परम सत्य को केन्द्रित करके होते हैं। हिन्दुओं की जीवन-पद्धति का वर्णन करते हुऐ डॉ. राधाकृष्णन् कहते हैं कि हिन्दुओं का धर्म-दर्शन प्रयोगात्मक मूल से प्रारम्भ होता है और वहीं लौट आता है। यह प्रयोगात्मक आधार उतना ही व्यापक है, जितना स्वयं मानव-प्रकृति है। दूसरे धार्मिक मतों का प्रारम्भ कुछ विशेष परिगृहीत तथ्यों से होता है। उदाहरण के लिए ईसाई धर्म को लीजिए। इसका आधार है मानवीय विवेक के ऊपर ईसा मसीह की पूर्ण प्रामाणिकता का स्वयंसिद्ध होना और मानवात्मा के उद्धार के लिए उनकी योग्यता और तत्परता के सम्बन्ध में पूर्ण विश्वास। ईसाई ज्ञान केवल उन्हीं के अनुकूल पड़ता है, जो एक विशेष ढंग की आध्यात्मिक अनुभूति रखते हैं या स्वीकार करते हैं। वे दूसरी अनुभूतियों को भ्रमपूर्ण और दूसरे आगमों को अपूर्ण मानते हैं। इस्लाम धर्म के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है। परन्तु तथ्य के प्रति आस्था होने के कारण हिन्दू धर्म ऐसे धोखे में नहीं पड़ा है। हिन्दू विचारक बिना हिचकिचाहट के दूसरों की बातें स्वीकार करते हैं और अपनी बातों की तरह उन्हें भी ध्यान देने योग्य समझते हैं। अगर सभी देशों और सभी वर्णों के मनुष्य, जो सभ्यता के नाना स्तरों पर खड़े हैं, ईश्वर की ही सन्तान हैं, तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि उसके विस्तृत कृपा-क्षेत्र के भीतर सब-के-सब अपनी अपनी शक्ति के अनुसार उस सर्वोच्च सत्ता की जानकारी के लिए उसी से ज्ञान प्राप्त करते हैं तथा उसी के प्रेम की छत्रछाया में पलते हैं।

हिन्दू जाति ने जब इस सत्य का अनुभव किया कि दूसरे लोगों ने ईश्वर-प्राप्ति को अपना लक्ष्य बनाकर विभिन्न रास्तों से उसकी प्राप्ति की है, तो उन सबों को उसने उदारतापूर्वक अपना लिया और कालक्रम में उनका स्थान ठीक तरह से निर्धारित कर दिया। इस जाति ने विभिन्न समुदायों के विशेष विशेष आगमों का उनकी ही उन्नति के लिए उपयोग किया, क्योंकि उनकी रुचि और प्रतिभा के विकास के लिए, उनके जीवन और विचारों को समृद्ध बनाने के लिए, उनके भावावेगों को जाग्रत करने और उनके कार्यों को प्रेरणा देने के लिए वे ही एकमात्र साधन थे।

इस प्रकार हिन्दू धर्म कोई निश्चित धर्ममत नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक विचारों और साधनाओं का विशाल, पर सूक्ष्मता से एकीभूत पुज है। **हिन्दू जाति के विभिन्न सम्प्रदायों में जो भेद दिखायी पड़ते हैं, वे न्यूनाधिक रूप में सतही हैं।** हिन्दू जाति स्पष्टतः एक सास्कृतिक इकाई के रूप में रही है, जिसका सामान्य इतिहास, साहित्य और सभ्यता है। विन्सेंट स्मिथ 'ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया' की भूमिका लिखते हुए कहते हैं – "निःसन्देह भारत में एक आधारभूत आन्तरिक एकता है। यह एकता भौगोलिक पृथकता या राजनीतिक श्रेष्ठता से पैदा होनेवाली एकता से कहीं अधिक गम्भीर है। यह एकता असख्य परस्पर-विरोधी रक्त, रंग, भाषा, पोषाक, रीति-रिवाज तथा सम्प्रदाय के घेरे से बहुत ऊपर उठी हुई है।"

और यही हिन्दुत्व की वह विशेषता है, जो उसे प्रचलित अर्थवाले धर्म के रूप में कम, जीवन-पद्धति के रूप में अधिक प्रस्तुत करती है। (आकाशवाणी, रायपुर से ३.३.१९८५ को प्रसारित)

मानवता की झाँकी (६)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी ने 'मानवता की झाँकी' नाम से अपने भ्रमण के दौरान हुए उत्कृष्ट अनुभवों का लिपिबद्ध किया था, जो रामकृष्ण कुटीर, बीकानेर से प्रकाशित हुई। इन प्रेरक व रोचक घटनाओ को हम क्रमशः प्रकाशित कर रहे है। – सं.)

सन्त-प्रेमी वृद्धा

द्वारकाधाम। परिव्राजक संन्यासी तीर्थाटन करता हुआ पोरबन्दर, सुदामापुरी से चलकर द्वारका पहुँचा। उन दिनों जामनगर तक ही रेलमार्ग था, उसे आगे द्वारका तक भी ले जाने की तैयारी चल रही थी। काफी भ्रमण हो चुका था। शरीर कमजोर हो गया था। चातुर्मास प्रारम्भ होने से पहले ही द्वारका पहुँच कर वहाँ ही चातुर्मास करने का निश्चय किया। रास्ते में एक आयोध्यावासी वैष्णव सन्त साथ हो लिए थे और द्वारका तक भिक्षा ला-लाकर संन्यासी को खिलाया था। वे बड़े प्रेमिक तथा सुशिक्षित थे।

जब द्वारका पहुँचे, तो शाम होने में काफी देर थी और दोनों जन गोमती में स्नान तथा श्रीमूर्ति दर्शन करने के बाद ठहरने की जगह की खोजने लगे। वैष्णव सन्त के लिए तो वैष्णव अखाड़े में स्थान हो गया, पर संन्यासी का चातुर्मास करने का विचार जानते ही, सर्वत्र नकार मिलने लगा।

सारदा मठ श्री शंकराचार्य एक पीठस्थान और संन्यासियों की जगह होने पर भी वहाँ शर्मनाक अव्यवस्था फैली थी – पीठाधीश तो थे ही नहीं और व्यवस्थापक ने बड़ी तुच्छता से बात की, इसलिए संन्यासी कहीं बाहर पड़े रहने का ही निश्चय करके वैष्णव सन्त से विदा लेने लगे, तो एक वैष्णव ने कहा, "श्मशान के पास एक बनावटी गुफा है, जो खाली पड़ी है। बनानेवाले महात्मा कुछ रोज पहले ही देवलोक सिधार गए हैं, दरिया नजदीक और पास ही बावड़ी भी है।" बस, दोनों चल पड़े और जगह ढूँढ़ निकाली। देखा तो सचमुच ही एकान्त में स्वतंत्र स्थान है और संन्यासी को पसन्द भी आयी, गुफा थी बनावटी, ईंटों से दरियाई रेती के अन्दर सुरंग जैसी करके बनाई गई है। अन्दर भी रेती भरपूर है, वैष्णव सन्त ने उसे जरा साफ करके अपने कपड़े में बाँध-बाँधकर दूर से साफ रेती लाकर बिछा दी, कमण्डलु में मीठा पानी भर दिया, कारण वह बावड़ी का जल खारा था और फिर सुबह मन्दिर में मिलने को कहकर अपने स्थान पर चल दिये।

रात भर बड़े आनन्द में गुजरा। एक छोटी-सी खिड़की थी, उससे खूब शीतल दरियाई हवा आ रही थी। दूसरे दिन स्नानादि करके मन्दिर मे दर्शनार्थ गया। दर्शन-स्पर्शन कर आनन्द मिला। बैष्णव सन्त भी आ मिले, प्रेम से श्रीकृष्ण लीला-धाम की बातें हुई। मध्याह्न का समय होते ही वे अपने स्थान पर चले गए। संन्यासी कुछ देर और बैठकर गुफा में लौट गया। भिक्षा के लिए किसी ने कहा नही और स्वयं वह भिक्षाटन करता नही था। दिन भर पानी पी-पीकर गुजारा श्रीकृष्ण के स्थान द्वारका में उपवासी रहना पड़ा। ...

पर सुबह स्नान-आदि करके मन्दिर नहीं जा सका। बहुत कमजोरी प्रतीत होने से वापस गुफा में ही जाकर पड़ा रहा। वह विचार कर रहा था कि शायद इस द्वारका-धाम मे ही देहपात हो। अब भगवान की जैसी मर्जी ! तीर्थ स्थान है और फिर पास ही श्मशान है।

दो या तीन बजे होंगे। दो वृद्धा माताएँ एक लड़के को साथ लेकर वहाँ हाजिर हो गयीं। – "क्यों महाराज, आज आप मन्दिर में दर्शनार्थ नहीं आए? कुछ कमजोर से कल ही मालूम होते थे। तबीयत नरम हो गयी है क्या? बुखार तो नही आया है न? कल कहाँ भिक्षा की थी? अपने मुहल्ले में तो नहीं आए थे। यहाँ पर एक ही मुहल्ले में ज्यादातर हम ब्राह्मण पुजारियों के घर हैं, भिक्षा के लिए उधर हमारे घर ही आ जाया करो। आज कहाँ भिक्षा की? और कल कहाँ की थी?" संन्यासी ने जब कमण्डलु की ओर दिखा दिया तो बोलीं – "ओ हो, आपने तो दो दिनों से खाया ही नही है। अरे, लड़के, जा दौड़कर दुकान से मिठाई ओर नमकीन ले आ, गाँठिया भी लाना।" और मँगाकर प्रेम से खिलाया, बस, अब तो नित्य खबर लेने लगीं और भिक्षा की अच्छी व्यवस्था हो गयी, चातुर्मास करके ही संन्यासी अन्यत्र गया था।

इसमें भी धार्मिकता के साथ थी – मानवता !

भिक्षुक की हृदयवत्ता

किष्किंधा, जहाँ बाली-सुग्रीव का राज्य था, जहाँ श्रीराम-लक्ष्मण ठहरे थे, जहाँ श्री हनुमान माँ सीता की खोज लेकर आए थे और जहाँ से वानर-सेना के साथ लंका पर चढ़ाई करके श्रीराम सीताजी का उद्धार कर लाए थे, उस पवित्र स्थल का दर्शन करने हेतु एक बार परिव्राजक संन्यासी भ्रमण करता हुआ वहाँ जा पहुँचा। पर्वतमाला-वेष्टित सुन्दर स्थल, जीर्ण हो चुका एक प्राचीन मन्दिर, परन्तु रामायण का वह प्रसंग याद आ जाने से उसे स्थान-गाम्भीर्य का अनुभव होने लगा मानो आँख के समक्ष द्रुत वेग से किष्किंधा-काण्ड का चलचित्र चलने लगा।

वहाँ अनुभव तो और भी कई हुए, पर इस स्थान पर उन्हे नहीं, अपितु मानवता का अनुभूत दृष्टान्त ही देना है।

वहाँ से चक्रतीर्थ समीप ही है। दूसरे ही दिन संन्यासी जंगल के मार्ग से वहाँ जा पहुँचा। एक रात किष्किंधा में रहा और सुबह मातंग-पर्वत का दर्शन करने गया, तो वहाँ कोई ताजा नारियल रख गया था; भूख लगी थी, तो अनायास ही नारियल का वह प्रसाद प्राप्त होने से खुश होकर खा गया। फिर दोपहर को चक्रतीर्थ पहुँचा। स्वच्छ-सलिला अर्ध-चन्द्राकार नदी में खूब स्नान किया। दृश्य अति मनोरम था। सामने नीले पर्वत को चक्राकार घेरती हुई तीव्र वेग से चल रही नदी वर्षाकाल के जल से लबालब भरी थी। आसपास में भी पहाड़ -जंगल ही थे। कभी यहाँ महान् विजयनगर राज्य की राजधानी थी, अब हम्पी नाम है, श्री हम्पीश्वर महादेव जी का एक विशाल मन्दिर है। यह चक्रतीर्थ प्रसिद्ध शैवतीर्थ है।

संन्यासी स्नान करके एक साफ पत्थर पर बैठकर वहाँ के दृश्य देख रहा था और मन-ही-मन इतिहास के पन्नों में ढूँढ़ रहा था कि विजय-नगर साम्राज्य का उत्थान और विनाश कैसे हुआ? क्यों हुआ? और क्या हम भारतवासी उससे कुछ पाठ सीख सकें हैं? आदि आदि।

इतने में एक सौम्य वृद्धा आई और सामने नारियल रखकर अपनी भाषा में बहुत कुछ कहने लगी। संन्यासी तो दो-चार शब्दों का ही अनुमान कर सका, बाकी सब शून्य। उसने हिन्दी में आशीर्वचन कहे, पर बुढ़िया शायद कुछ भी न समझी और बाद में वह दण्डवत प्रणाम करके चल दी। अब भूख तो लगी थी, अनायास ही फिर नारियल मिल जाने से उसी को खाकर क्षुधा-निवारण करने के विचार से संन्यासी उसे पूरा खा गया। और कोई उपाय भी तो न था। वह गृहस्थ के घर जाकर भिक्षा तो माँगता ही न था। 'आकाशवृत्ति' में स्थित था। पर दोनों समय के आहार-रूप नारियल ने पेट में जाकर गड़बड़ मचा दी। पहले तो पेट में दर्द होने लगा, बाद में दस्त होने लगे और शाम तक पेचिश की बीमारी हो गयी। अब चक्रतीर्थ में ठहरने का विचार छोड़कर वह होसपेट शहर की और चल पड़ा, यह सोचकर कि शायद वहाँ इलाज की कोई व्यवस्था होगी। सारे रास्ते दस्त की शिकायत से परेशान होता हुआ, रात में वह होसपेट पहुँचा। पर अब व्याधि इतनी बढ़ गयी थी कि शहर में कहीं जाना सम्भव न था। बाहर रास्ते के पास एक लिंगायत धर्मशाला के पीछे छप्पर में स्थान मिला। वहाँ कोई भी न होने से अच्छा ही रहा। सामने घिरे हुए कोट के अन्दर तालाब व जंगल, इसलिए सुविधा देखकर संन्यासी बड़ा निश्चिन्त हुआ। परन्तु सारी रात दस्त चालू रहने से वह बहुत दुर्बल हो गया था। सुबह देखा कि केवल खून-ही-खून निकल रहा है। अब तो इतनी कमजोरी महसूस होने लगी कि बड़ी मुश्किल से हाजत के लिए जा सकता था। चक्कर आने लगा था। पर कोई सहायक न मिलने से निरुपाय हो पड़े रहने के सिवाय वह और कर भी क्या सकता था! शाम को ग्वालियर की ओर का सारंगी बजाकर भीख माँगनेवाला एक आदमी आ पहुँचा। संन्यासी को देखकर वह खूब प्रसन्न हुआ और बोला – सत्संग में रात ठीक बीतेगी। पर जब देखा कि बारम्बार दस्त के लिए जा रहा है, तो चिन्तित होकर पूछा – तकलीफ कबसे हुई, कबसे यहाँ हैं, दवाई ली है या नहीं, क्या खाया? आदि। सारी बातें जानने के बाद उसने कहा – "कल सुबह मिट जाएगा। यह अन्न न मिलने से और उस नारियल का प्रताप है। मैं कल जल्दी भात बनाकर आपको खिलाकर भीख माँगने के लिए जाऊँगा, आप घबड़ाइए मत।"

रात भर खून के दस्त होते रहे। सुबह उसने नहा-धोकर चावल पकाया और लाल मिर्च में खूब घी डालकर उसका रसा बनाकर खाने को परोस दिया। संन्यासी ने लाल मिर्च देखकर सोचा – बस अब यही अन्तिम आहार है। 'जय भगवान' – कहकर उस झोल से ही भात खाया। सारंगधारी ने भी कुछ भोजन किया और भिक्षा के लिए चल दिया।

इधर ४-५ बार तो जोर से दस्त लगे, पर बाद में खून की मात्रा कम होती गई और दस्त आने में अधिक समय लगने लगा। आश्चर्य! शाम तक तो खून आना बिल्कुल बन्द हो गया। आँव का भाग भी कम प्रतीत हुआ और देह में स्वस्थता आने लगी, वह बाजार से दही और संन्यासी की बीमारी की बात कहकर इलाज के लिए किसी सज्जन से अच्छा घी माँग लाया था। रात में उसने फिर घी के साथ दही-भात खिलाया। सुबह तक तो पेचिश का कोई नामो-निशान तक न रहा।

अगले दिन फिर दही-भात खिलाकर वह भिक्षा के लिए चला गया। दिन भर संन्यासी को आराम रहा। शाम को वह सारंगधारी एक सज्जन को साथ लेकर आया। उसने कहा – बेल्लारी अच्छी जगह है, वहाँ चले जाने से अच्छा रहेगा। स्वयं टिकट भी खरीद दिया। सारंगधारी ने स्टेशन तक जाकर गाड़ी में बैठा दिया और बड़े प्रेम के साथ विदा किया। संन्यासी साभार विदा लेते हुए सोचने लगा – इस भिक्षुक के हृदय में भी मानवता का सुन्दर पुष्प खिला हुआ है। धन्य!

❖ (क्रमशः) ❖

(विवेक-ज्योति के प्रारम्भिक वर्षों में प्रकाशित पाठकों के प्रश्न तथा तत्कालीन सम्पादक ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी के उत्तर। – सं.)

आध्यात्मिक-प्रश्नोत्तरी

८६. प्रश्न – क्या काम का समूल उन्मूलन सम्भव है? भगवान कृष्ण ने गीता में कहा है – 'कामोऽस्मि' – इसका क्या तात्पर्य है?

उत्तर – काम का समूल उन्मूलन केवल ज्ञानलाभ के बाद ही सम्भव है। पर यह ज्ञानलाभ कोई सहजलभ्य अवस्था तो है नहीं, अत: व्यावहारिक रूप से यह मान लेने में कोई अड़चन नहीं कि जब तक शरीर है, तब तक इस काम के प्रति सतर्क रहना होगा।

फ्रायड व अन्य मनोवैज्ञानिकों का मत है कि काम को दबाने से कुण्ठाओं (complexes) का उदय होता है और मनुष्य कुण्ठाग्रस्त होकर विभिन्न मानसिक रोगों का शिकार हो जाता है। ये बातें एकदम सत्य नहीं हैं। यदि काम की शक्ति को दबाया जाय, तो कुण्ठाएँ अवश्य उत्पन्न होती हैं, पर अध्यात्म-साधना में इसे दबाने का नहीं, बल्कि उदात्त करने का प्रयास किया जाता है। यह उदात्तीकरण की प्रक्रिया प्रशमन और दमन (suppression and repression) से भिन्न है। फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिक इन कुण्ठाओं से बचने के लिए काम के भोग का उपदेश देते हैं। पर प्रश्न यह है कि यदि हम काम की वृत्ति पर यह सोचकर अंकुश न लगाएँ कि इससे हम कुण्ठाग्रस्त हो जाएँगे और उसको छूट दे दें, उसका भोग करें, तो क्या इससे भी मन में एक कुण्ठा का निर्माण नहीं होगा? अमेरिका आदि देशों में जहाँ निर्बाध 'सेक्स' का प्रचलन है, जहाँ लोग अपने को 'लिबरेटेड' (liberated) कहते हैं, वहाँ भी फिर क्यों इतना मानसिक तनाव और हताशा है? जो हिप्पी किसी प्रकार के बन्धन में नहीं हैं, क्या वे कुण्ठाओं से मुक्त हो चुके होते हैं? और यदि उनकी स्थिति को कुण्ठामुक्त माना जाय, तो वह कोई स्पृहणीय अवस्था नहीं है।

इस सन्दर्भ में हमें उदात्तीकरण का अर्थ समझ लेना चाहिए। यह सही है कि जीवन में 'काम' का वेग बड़ा प्रबल होता है, पर यह भी सही है कि उस वेग को बाँधने के निश्चित उपाय हैं। यदि उचित सावधानी बरतते हुए इन उपायों का सहारा लिया जाए, तो हम इस वेग को ईश्वराभिमुखी बना सकते हैं, तभी उसे अध्यात्म साहित्य 'प्रेम' की संज्ञा देता है। हम लौकिक दृष्टि से जिसे 'प्रेम' कहते हैं, वह अध्यात्म की दृष्टि से प्रेम नही है। जब हम व्यक्ति को व्यक्ति मानकर नहीं, अपितु ईश्वर का प्रकाश अथवा आत्मस्वरूप मानकर स्नेह करते हैं, तब वह अध्यात्म की दृष्टि से 'प्रेम' है और हमारा जीवन इसी प्रेम को प्राप्त करने की साधना है। जो प्रेम को 'सेक्स' का समानार्थी मानते हैं, उन्हें तो अध्यात्म का नाम ही नहीं लेना चाहिए। और जो यह मानते हैं कि 'सेक्स' के द्वारा ही वे प्रेम के प्रांगण में प्रवेश पा सकते हैं, वे नादान हैं।

काम को नियंत्रण में लाने के लिए सबसे कारगर उपाय यह कि हम जान-बूझकर उसका चिन्तन न करें और काम की उद्दीपना देनेवाले परिवेशों से स्वयं को यथासाध्य दूर रखने की चेष्टा करें। वस्तुत: काम को बहुधा हमीं जान-बूझकर उद्दीपित करते हैं और फिर उसकी शान्ति का उपाय खोजते हैं। यह वैसा ही है, जैसा एक कवि ने कहा है –

तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं स्वादु सुरभि।
क्षुधार्त: सन् शालीन् कवलयति शाकादि बलितान्।।
प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढ़तरमालिंगति वधूं।
प्रतीकारो व्याधे: सुखमिति विपर्यस्यति जन:।।

– जब मनुष्य को प्यास-रोग सताता है, तब वह मीठे और सुगन्धित जल के पान से इस रोग को दूर कर लेता है। आनन्द तो उसे रोग दूर होने के कारण आया, पर वह मानता है कि मिष्ट-सुरभित जल पीने से मुझे बड़ा आनन्द आया। यदि यही बात हो तो पेट जब भरा हो, तब भी वैसा जल पीने से आनन्द आना चाहिए, पर वह नहीं आता। वैसे ही क्षुधा भी एक रोग है। उसकी निवृत्ति शाकादि पदार्थों से मिश्रित चावल आदि का उपयोग करने से होती है। लोग कहते हैं कि भोजन में बड़ा आनन्द आया, पर वस्तुत: आनन्द तो भूखरूपी रोग के निवारण से मिला। यदि किसी विशेष भोजन में आनन्द होता, तो पेट भरा रहने पर भी उसे खाने से आनन्द मिलना चाहिए, जो नहीं मिलता। इसी प्रकार काम का प्रदीप्त होना भी एक रोग है और उसका शमन पत्नी-सम्बन्ध के द्वारा होता है। असल में व्याधि के प्रतीकार के कारण हमें सुख मिलता है, पर मनुष्य भ्रान्ति से क्रियाओं में सुख मान लेता है। यदि सुख क्रियाओं से मिलता होता, तो सभी अवस्थाओं में उन क्रियाओं से सुख उत्पन्न होता, पर ऐसा नहीं हुआ करता।

तात्पर्य यह है कि सुख रोग के दूर होने से होता है। फ्लू के प्रकोप में पड़कर चंगा होता हूँ, तो मुझे सुख होता है। तो क्या इसीलिए मैं यह प्रयत्न करूँ कि मुझे पुन: टायफाइड या फ्लू हो जाय और मैं उससे मुक्त होने की चेष्टा करूँ? नहीं, मैं ऐसा नहीं करता। तो फिर क्यों हम काम की वृत्ति के भोग के लिए प्रयत्नर्पूक काम-ज्वर पैदा करते हैं? यदि हम यह बात समझ लें और तदनुरूप सावधानीपूर्वक जीवन में व्यवहार करें, तो काम के नियंत्रण की दिशा मे एक बड़ा कदम उठा लेंगे।

जैसा हमने कहा, 'काम' जीवन की एक प्रबल शक्ति है और उसे व्यवस्थित रूप से धीरे धीरे अपने नियंत्रण में लाना पड़ता है। विवाहितों के लिए इसका प्रथम चरण है – अपनी पत्नी के सिवाय अन्यत्र कहीं यौन-सम्बन्ध न रखना और पत्नी के साथ भी संयमपूर्वक व्यवहार करना। यह संयम धर्म का एक रूप है और इस दृष्टि से भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है – **धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ** – "हे भरतर्षभ, मैं जीवों में धर्म का अविरोधी काम हूँ।" प्रभु अपनी विभूतियों का वर्णन करते हुए काम की प्रबल शक्ति को अपनी विभूति के अन्तर्गत गिनाकर उसे मान्यता तो देते हैं, पर एक विशेषण लगाना वे नहीं भूलते – **धर्माविरुद्धः** – 'धर्म का अविरोधी'। विवाहितों के लिए दूसरा चरण श्रीरामकृष्ण देव की भाषा में देखिए – "एक-दो बच्चे हो जाने पर पति-पत्नी को भाई-बहन के समान संसार में रहना चाहिए।" जो अविवाहित है और अध्यात्म-पथ पर बढ़ना चाहता है, उसे तो 'सेक्स' से पूरी तरह दूर रहना होगा। मानसिक दोष यदि हो भी जाय, अर्थात् मन से यदि पाप-चिन्तन कभी हो भी, तो उसकी उपेक्षा करे, उसे तूल न दे और अधिकाधिक शुभ विचारों और कार्यों के परिवेश में अपने को घेर रखे। श्रीमाँ सारदादेवी ने कहा था – "कलियुग में मानसिक दोष पाप में नहीं गिना जाता।"

पर इसका तात्पर्य हम यह न ले लें कि हमें पाप-चिन्तन की छूट मिल गई। ऐसा अर्थ लेना एकदम भूल है। इसका मतलब केवल इतना है कि यदि कभी हमसे पाप-चिन्तन हो जाय, तो हम उसे उपेक्षित करें, मन को पुन: उधर न जाने देने का प्रयास करें और सर्वदा अपने को सत्कार्यों और सच्चिन्तन में व्यस्त रखें।

इस प्रकार सुनियोजित और सावधानीपूर्वक किया गया अभ्यास ही क्रमशः काम के वेग को बाँध सकता है और अन्त में हमें भगवत्कृपा का अधिकारी बना उससे मुक्त भी कर सकता है।

८७. प्रश्न – हर वर्ष कोई न कोई महान् आत्मा मोक्ष को प्राप्त होती है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि इस मर्त्यलोक में जीवों की संख्या दिनो-दिन कम होती जा रही है और कालान्तर में सभी आत्माएँ मोक्ष को प्राप्त होंगी और आवागमन के चक्कर से छुटकारा पा लेंगी तथा इस लोक मे कोई भी शेष नहीं बचेगा। इस पर आप क्या कहते हैं?

उत्तर – यह सही है कि एक-न-एक दिन सभी को मोक्ष प्राप्त होगा, पर यह क्रमिक रूप से साधित होता है। जीवन-प्रवाह का जो विकास 'अमीबा' से शुरू होता है, मनुष्य में आकर ही क्रमश: परिपूर्णता को प्राप्त होता है। हम विकास के इस सिद्धान्त को मान्य करते हैं। हमने अपने गीता-प्रवचन में इस पर सविस्तार प्रकाश डाला है कि कैसे जीवन-क्रम 'अमीबा' से शुरू होकर, १२८ लाख योनियों में से चलकर, अन्त में मनुष्य-योनि में आता है और इस मानव-योनि में अनेक जन्मों के उपरान्त, अपने में निहित पूर्णता को क्रमश: अभिव्यक्त करता हुआ, किसी एक जन्म में सारे बन्धनों को तोड़कर मुक्त हो जाता है। इस भाँति निस्सन्देह हर जीवात्मा मुक्त हो जाएगी। और इससे यह अवश्य ध्वनित होता है कि मर्त्यलोक में जीवों की संख्या दिनो-दिन कम होनी चाहिए। पर प्रत्यक्ष में उल्टा ही अनुभव में आता है। इसका कारण यह है कि निम्नतर योनियों में से जीवन-क्रम धीरे धीरे मनुष्य-योनि में विकसित होता जा रहा है। पूर्वकाल की कुछ योनियाँ पूर्णत: समाप्त हो गई हैं। वनस्पति-जीवन भी जितना पहले प्रचुर था, आज उतना नहीं है। विकास के सिद्धान्त के अनुसार ये समस्त अपने से उच्चतर योनियों में जा रहे हैं।

अब, यदि ऐसा प्रश्न किया जाय कि जीवन की प्रारम्भिक योनि – अमीबा – में असंख्य जीव कहाँ से आ रहे हैं, तो इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है। जैसे हम विश्व-किरण (cosmic rays) का अनुभव तो करते हैं और यह भी जानते है कि ये विश्व-किरणें सतत प्रवहमान हैं और हमें यह भी पता है कि सतत परमाणुओं के विघटन और संघटन से ये किरणें पैदा होती हैं, पर हम यह नहीं जानते कि अन्तरिक्ष में ये परमाणु क्यों विघटित और संघटित होते रहते हैं। इस 'क्यों' का कोई उत्तर न तो विज्ञान के पास अभी है, न अध्यात्म के पास।

अत: जीव मुक्त भी होते रहेंगे और मर्त्यलोक में उनकी संख्या बढ़ती भी रहेगी। यह ऐसी पहेली है, जिसका उत्तर, स्वामी विवेकानन्द की भाषा में – 'वही जाने जो ज्ञाता है!'

❖ (क्रमश:) ❖

शिक्षकों का कर्तव्य (४)

स्वामी रंगनाथानन्द

(रामकृष्ण संघ के वर्तमान अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज ने दिल्ली, फरीदाबाद तथा नोएडा में स्थित एपीजे स्कूलों के शिक्षकों को २ अप्रैल, १९८६ को सम्बोधित करते हुए अंग्रेजी भाषा में जो व्याख्यान दिया था, यह लेखमाला उसी पर आधारित है। मूल अंग्रेजी में भी इस व्याख्यान के अनेक संस्करण निकलकर काफी लोकप्रिय हुए हैं। विषय की नवीनता तथा विशेष उपादेयता देखते हुए हिन्दी में इसका अनुवाद किया है 'विवेक-ज्योति' सम्पादकीय विभाग के ही स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने। – सं.)

८. शिक्षकों के प्रशिक्षण का महत्त्व

हमें अपने बच्चों को इस तरह की शिक्षा के लिए अधिकाधिक प्रोत्साहित करना चाहिए। हम लोग अपने बच्चों के मन तथा दृष्टिकोण को उसी पुरानी जड़ अवस्था में नहीं रखना चाहते। हम लोग अपने बच्चों में रचनात्मक मानसिकता चाहते हैं। और इसमें शिक्षकों की भूमिका और उत्तरदायित्व महान् है। हमारे शिक्षक-शिक्षिकाओं को एक ऐसे प्रभावी प्रशिक्षण की जरूरत है, जो शैक्षिक मूल्यों और अपनी संस्कृति तथा पाश्चात्य संस्कृति के विचारों को समन्वित करने में सक्षम हो। राष्ट्र को ऐसे प्रशिक्षित मनवाले, न कि जड़ बुद्धिवाले, लाखों शिक्षकों के सेवा की आवश्यकता है और जिन लोगों ने यह चिन्तन तथा स्वयं से कहना सीखा है –

"स्वतंत्र भारत के एक नागरिक के रूप में मैं अपने देश को महान् देखना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि हमारे देश के लोग सर्वश्रेष्ठ ज्ञान तथा सभ्यता प्राप्त करें। मैं एक शिक्षाविद् और स्वतंत्र भारत के एक नागरिक के रूप में, अपने पास आनेवाले बच्चों में मानव-निर्माण, राष्ट्र-निर्माण और चरित्र-निर्माण की शिक्षा का सम्प्रेषण करके राष्ट्र के आह्वान का समुचित उत्तर दे सकूँ और अपने राष्ट्रीय उत्तरदायित्व का प्रभावकारी ढंग से निर्वाह कर सकूँ।"

वस्तुतः, सरकार द्वारा शीघ्र ही घोषित होनेवाली नयी शिक्षा-नीति में शिक्षकों के प्रशिक्षण में सुधार के लिए एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य-योजना है। इस समय हमारे देश में शिक्षा के नव-रूपायन में शिक्षक-प्रशिक्षण अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्त्व है। इस समय मैं आप लगभग ३०० शिक्षकों से शिक्षा पर चर्चा के माध्यम से ३,००० या ३०,००० छात्रों के साथ चर्चा कर रहा हूँ। हर सुप्रशिक्षित शिक्षकों को हर वर्ष राष्ट्रीय स्वास्थ्य तथा कल्याण हेतु ३० से ४० छात्रों को प्रेरित करने का सुयोग प्राप्त होता है। इसलिए शिक्षकों का प्रशिक्षण अतीव आवश्यक है। जो लोग सभी क्षेत्रों में असफल रहने के बाद अन्तिम आश्रय के रूप में शैक्षिक सेवा में आते हैं, हमारे शिक्षकों को वैसा नहीं होना चाहिए। सर्वोत्तम मस्तिष्कों को शिक्षा के क्षेत्र में आकृष्ट होना चाहिए। एक बार इस क्षेत्र में आने के बाद शिक्षक को स्वयं पर और अपने कार्य पर पूर्ण विश्वास होना चाहिए। शिक्षा में सर्वश्रेष्ठ मस्तिष्कों को आकृष्ट करने के लिए सरकार को भी आवश्यक कदम उठाकर अपनी भूमिका निभानी चाहिए और शिक्षको को उच्चस्तरीय राष्ट्रीय भूमिका के अनुसार पारिश्रमिक भी प्रदान करना चाहिए।

अठारहवीं सदी के इंग्लैंड में यह कहावत प्रचलित थी, "देशभक्ति दुर्जनों का अन्तिम आश्रय है।" भारत में अब यह कहना बन्द हो – शिक्षण सामाजिक दृष्टि से असफल लोगों का अन्तिम आश्रय है। शिक्षण एक सेवाव्रत है। शिक्षक उसी को होना चाहिए, जिसमें ज्ञान के अर्जन तथा वितरण के प्रति समर्पण का भाव हो। यह कितना सुन्दर भाव है! इसलिए हमें अपनी शिक्षा-प्रणाली को दल-के-दल ऐसे सुप्रशिक्षित शिक्षक प्रदान करने हेतु कदम उठाने होंगे। इसे सम्भव बनाने के लिए एक नया प्रस्ताव भी है और वह है १२वीं कक्षा के बाद ही शैक्षिक-प्रशिक्षण प्रारम्भ कर दिया जाय। इस शैक्षिक-प्रशिक्षण में तीन वर्षों का स्नातकीय और एक वर्ष का स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम होगा और इस प्रकार शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए कुल चार वर्ष मिल जाते हैं। एक कुशल वकील बनने के लिए कानून की शिक्षा में यह विधि छोटे परिमाण में अपनाई जा चुकी है। अब इसे शिक्षकों के प्रशिक्षण में भी अपनाना श्रेयष्कर होगा। इससे उच्चतर माध्यमिक छात्रों में से शिक्षण के प्रति रुझान रखनेवालों के आकृष्ट होने की काफी सम्भावना है और वे अपने तीन वर्ष के पूर्व-स्नातकीय शिक्षा के दौरान भी शिक्षक-प्रशिक्षण के परिवेश के बीच अध्ययनरत होंगे। इससे शिक्षण को आजीविका के स्थान पर जीवन-व्रत के रूप में अपनानेवाले और भी अधिक लोग स्नातकोत्तर शिक्षक-प्रशिक्षण पाठ्यक्रम में आएँगे। इस योजना में आवश्यक शैक्षिक संकल्प एवं राष्ट्रीय समर्पण की भावना से युक्त शिक्षकों की एक विशाल सेना के निर्माण की सम्भावना है।

९. शिक्षण और विद्वत्ता का समन्वय हो

यथार्थ शिक्षक के दो घटक तत्त्व हैं – पहला ज्ञान के प्रति प्रेम और दूसरा राष्ट्रसेवा के प्रति प्रेम। केवल सेवा से कुछ नहीं होगा, ज्ञान के प्रति अनुराग आवश्यक है। जो शिक्षक विद्याप्रेमी नही है, वह बच्चों को विद्यानुरागी बनने की प्रेरणा नहीं दे सकता। शिक्षक को नई पुस्तकों के अध्ययन के द्वारा अपने मस्तिष्क को तरो-ताजा रखना होगा। शिक्षक या शिक्षिका को निरन्तर अपने ज्ञानकोष में नवीनीकरण लाते रहना होगा।

हमारे प्राचीन तैत्तिरीय उपनिषद् में, मानो एक अत्यन्त प्रेरक दीक्षान्त सम्बोधन में, सभी कालों के सभी विद्यार्थियों के लिए प्रासंगिक यह सुन्दर उपदेश दिया गया है – "शिक्षार्जन और शिक्षण में कभी प्रमाद मत करो" –

स्वाध्याय-प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ।

ज्ञानार्जन तथा शिक्षण – दोनों को सहगामी होना चाहिए। एक शिक्षक नई पुस्तकें पढ़ता है, ज्ञान के अभिनव आयामों की जानकारी प्राप्त करता है और नये नये विचारों से समृद्ध होता है। मन को ताजा और रचनात्मक रखने का यही उपाय है। ज्ञानार्जन की क्षमता दूसरों में ज्ञान के सम्प्रेषण की क्षमता से संयुक्त होनी चाहिए। इस सम्प्रेषित ज्ञान के पीछे शिक्षक का व्यक्तित्व उद्भासित होता रहता है। मात्र एक शिक्षक अपने ज्ञान के द्वारा केवल पाठ दे सकते हैं, लेकिन छात्रों में प्रेरणा का संचार केवल शिक्षक के व्यक्तित्व द्वारा ही होता है। काफी काल पूर्व जब १९४९ ई. में मैं इस राजधानी (दिल्ली) के रामकृष्ण मिशन का सचिव था, तब मुझे केन्द्रिय-शिक्षण-संस्थान (सेंट्रल इंस्टीच्यूट ऑफ एजुकेशन) से वहाँ व्याख्यान देने का निमंत्रण मिला था। उन दिनों वह भारत का सबसे प्रतिष्ठित शिक्षण-महाविद्यालय था। अपने व्याख्यान के दौरान मैंने स्वामी विवेकानन्द की यह वाणी उद्धृत की – "पाँच वर्ष एक स्कूल-शिक्षक के रूप में कार्य करने पर व्यक्ति मूर्ख हो जाता है।" सहसा एक शिक्षक ने खड़े होकर कहा – "विवेकानन्द बड़े उदार हैं, इसके लिए तो दो वर्ष ही काफी हैं।" पूरा सभागृह हँसी के ठहाकों से गूँज उठा। इसका क्या अर्थ है? हम लोग पुरानी पुस्तकों से पढ़ाते रहते हैं और नए विचारों से पूर्णतया अनभिज्ञ रहते हैं। ऐसी हालत में हम एक अच्छे शिक्षक कैसे बन सकते हैं? शिक्षको को अच्छी अच्छी पुस्तकें पढ़नी चाहिए और नये नये विचारो से अपने मस्तिष्क को तरो-ताजा रखना चाहिए। उदाहरण के लिए जिस किसी शिक्षक ने स्वामी विवेकानन्द के 'भारतीय व्याख्यान' और उनकी 'पत्रावली' – इन दो पुस्तकों को पढ़ा है, वह एक प्रभावी शिक्षक होगा। इन्हीं दोनों पुस्तकों ने आधुनिक भारत में राष्ट्रीय चेतना जाग्रत की, जिससे दल-के-दल राष्ट्रभक्त प्रेरित हुए हैं। पण्डित जवाहरलाल नेहरू, नेताजी सुभाषचन्द्र बोस, श्री अरविन्द, महात्मा गाँधी – इन सबने भारत को प्यार और सेवा करने की प्रेरणा उन दोनों पुस्तकों से प्राप्त की है। यह बात इन लोगों ने स्वयं स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण 'विवेकानन्द साहित्य' दस खण्डों में है, जो शक्तिप्रद, पवित्रकारी और एकता लाने वाला है। फ्रांसीसी चिन्तक रोमाँ रोलाँ ने अपनी 'स्वामी विवेकानन्द की जीवनी' मे इस विशद साहित्य के विषय में एक अद्भुत अनुच्छेद लिखा है। स्वामीजी को 'सैकड़ों विभिन्न राष्ट्रों से बने एक राष्ट्रीय एकता की प्रतिमूर्ति के रूप में उल्लेख करते हुए वे कहते हैं –

"उनके शब्द महान् संगीत है। विथोवन-शैली में टुकड़े हैं, हैंडेल के समवेत गान के छन्द-प्रवाह की भाँति उद्दीपक लय हैं। शरीर में विद्युत्स्पर्श के-से आघात की सिहरन का अनुभव किये बिना मैं उनके इन वचनों का स्पर्श नहीं कर सकता, जो तीस वर्ष की दूरी पर पुस्तकों के पृष्ठों में बिखरे पड़े हैं। और जब वे नायक के मुख से ज्वलन्त शब्दों में निकले होंगे, तब तो न जाने कैसे आघात और आवेग पैदा हुए होंगे!"

जब हमारे शिक्षक इस साहित्य को पढ़ेंगे और इसके विद्युत्-स्पर्श और रोमांच का अनुभव करेंगे, तब उनमें कुछ अद्भुत परिवर्तन आयेगा। तब वे शिक्षक एक राष्ट्रीय शक्ति के रूप में परिणत होंगे, न कि उस मनोभाव का पोषण करेंगे, जिसे बर्नार्ड शा ने इन तीक्ष्ण शब्दो में व्यक्त किया है, "शिकायतों तथा रोगो का एक ऐसा पिण्ड, जो सदा यह रोना रोता रहता है कि संसार क्यों नही उसे सुखी बनाने मे जुट जाता है!" सेवा की प्रेरणा बौद्धिक या बाह्य जगत् से नही, बल्कि हृदय से आती है।

आज न केवल हमारे देश में, अपितु अन्य अनेक देशों में भी शिक्षा के क्षेत्र में अव्यवस्था फैली है। अमेरिकी शिक्षा में अनेक गुण हैं, तथापि एक अमेरिकी समालोचक के अनुसार, जिनका लेख कुछ वर्ष पहले 'नेशनल पैरेन्ट टीचर जर्नल' के अप्रैल १९५५ के अंक में मैंने पढ़ा था, अमेरिकी शिक्षा मे भी गड़बड़ी फैली हुई है। अमेरिकी शिक्षा की परिभाषा देते हुए लेखक ने बताया है –

"शिक्षा वह रहस्यमय प्रक्रिया है, जिसमें जानकारी प्राध्यापक तथा छात्रों के मस्तिष्क में प्रवेश किए बिना ही लेखनी के माध्यम से पहले की नोटबुक में से दूसरे की नोटबुक में स्थानान्तरित हो जाती है।"

जैसे ही मैंने इसे पढ़ा, मेरे मन में आया – न जाने यह अमेरिका के परिप्रेक्ष्य में सत्य है या नहीं, लेकिन हमारे अपने देश में शिक्षा के नाम पर जो कुछ हो रहा है, उस प्रसंग में यह पूर्णत: सत्य है। आज हम लोग एक स्वाधीन देश के नागरिक हैं। हमें इन सबको विदा कर देना चाहिए। हम लोगो में उस प्रकार की राष्ट्रीय चेतना और नागरिक चेतना का जागरण होना

भूल-सुधार

पिछले अर्थात् जुलाई अंक के पृष्ठ ३०६ पर प्रकाशित 'नौजवान चाहिए' कविता के साथ प्रदत्त रचयिता के नाम में भूल हो गयी है, इस कविता को वस्तुत: गुरसराय (झाँसी) के श्री शिवाजी चौहान ने लिखा है। त्रुटि के लिए हमें हार्दिक खेद है।

– सम्पादक

चाहिए, जो स्वयं से कहता है –

"मैं एक वेतनभोगी कर्मचारी मात्र नहीं हूँ, मैं केवल धन के लिए काम करनेवाला नहीं, अपितु एक नागरिक हूँ। मेरे सामने बैठे ये बच्चे देश के उदीयमान नागरिक हैं; मैं इन लोगों के ज्ञान तथा चरित्र की उपलब्धि में सहायता करने के लिए ही यहाँ उपस्थित हूँ।"

कितना सुन्दर मनोभाव है यह! इससे हमारे राष्ट्र के शैक्षिक परिदृश्य में कितना बड़ा बदलाव आएगा!

१०. एक शिक्षक : कर्मचारी बनाम नागरिक

आधुनिक भारत के पुनर्निर्माण में हमारे शिक्षकों की भूमिका और उत्तरदायित्व विषय पर बोलने के क्रम में आज मैं इसी बात पर बल देना चाहता हूँ। स्मरण रहे कि राजनीति और प्रशासन जिन मनुष्यों को संचालित करते हैं, उनका निर्माण पहले घर में माता-पिता और फिर स्कूल-कॉलेजो में शिक्षकों द्वारा होता है। यह महत्वपूर्ण प्रक्रिया आप शिक्षकों के अधीन ही सम्पन्न होती है और आप इन्हें सचिवालयों, राजनीति, शिक्षा-क्षेत्र, बैंकों, बीमा-कम्पनियों तथा अन्य व्यवसायों को प्रदान करते हैं। यदि (मनुष्य रूपी) यह उत्पाद अपरिपक्व, स्वार्थी और राष्ट्रीय दायित्व-बोध से शून्य है, तो इसके कारण आप शिक्षक लोग है, क्योंकि आपने अपने छात्रों को स्वस्थ विचार नहीं दिये। माध्यामिक विद्यालयों के शिक्षकों के रूप में आप लोग राष्ट्र के नवीन तथा अति-संवेदनशील मनों को आकार दे रहे हैं। उन मनों पर उच्च मानवीय मूल्यों की छाप डालना शिक्षक का उत्तरदायित्व है। जब आप इस कर्तव्य का पालन करते हैं, तब आपका स्तर भी ऊँचा उठ जाता है। तब आप स्वयं को मात्र एक 'कर्मचारी' की जगह एक उच्च राष्ट्रीय कर्तव्य का निर्वाह करनेवाला एक 'नागरिक' समझने लगते हैं। यह एक बहुत बड़ा परिवर्तन है। तब आप २-४ हजार रुपये प्राप्त करनेवाले कर्मचारी मात्र नहीं, अपितु एक राष्ट्र-निर्माता तथा मानव-निर्माता बन जाते हैं। स्वामी विवेकानन्द द्वारा कथित 'मनुष्य बनानेवाले धर्म' और 'मनुष्य बनानेवाली शिक्षा' का यही महत्त्व है।

स्वामीजी का साहित्य ऐसे मनमोहक मुहावरों से भरा पड़ा है, जो हमारे दृष्टिकोण को पूर्णत: मानवीय तथा आध्यात्मिक दिशा देने में सक्षम हैं। प्राचीन भारत में हम लोगों ने अपने शिक्षकों को 'गुरु' शब्द से सम्बोधित करते हुए उन्हें उच्च पद प्रदान किया था। आज हमने इस शब्द के अर्थ को धार्मिक दीक्षा के सीमित क्षेत्र में ही संकुचित कर दिया है। वस्तुत: इस 'गुरु' शब्द में व्यापक अर्थ निहित है – "वे जो बच्चे की आँखों और मन को ज्ञान-जगत् के प्रति खोल देते हैं।" बालक के प्रथम गुरु माता, द्वितीय गुरु पिता और तृतीय गुरु विद्यालय के शिक्षक हैं। ये गुरुजन बालक के मनश्चक्षुओं को खोलकर ज्ञान के सांसारिक तथा पारमार्थिक पहलुओं का बोध करा देते हैं। हमारे महान् ऋषियों की समन्वित दृष्टि में ये दोनों ही ज्ञान आध्यात्मिक हैं। माता-पिता और शिक्षकों द्वारा अपने कर्तव्य सम्पन्न कर चुकने के बाद, एक विशेष अवस्था में ज्ञानार्थी छात्र के जीवन में धार्मिक शिक्षक 'गुरु' प्रवेश करते हैं। सांसारिकता से धार्मिकता की ओर यह एक सतत आध्यात्मिक शिक्षण तथा विकास चलता रहता है। भारत इन दोनों में कभी कोई विरोध नहीं देखता। और भारत यह भी कहता है कि व्यक्ति का अपना ही शुद्ध-प्रशिक्षित मन ही उसका अन्तिम और श्रेष्ठ गुरु है। 'गुरु: ब्रह्मा गुरु: विष्णु' से आरम्भ होनेवाले 'गुरुस्तोत्रम्', जिसका भारत और अब विदेशों में भी प्रतिदिन करोड़ों लोगों द्वारा पाठ किया जाता है, में श्री शंकराचार्य गुरु द्वारा सम्पन्न किये जानेवाली सेवा का सुन्दर वर्णन करते हैं –

अज्ञान तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जन शलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

– "अज्ञान की कालिमा से अन्ध व्यक्ति के नेत्रों को ज्ञान का अंजन लगाकर खोलनेवाले गुरुदेव को मैं प्रणाम करता हूँ।"

यह विभिन्न स्तरों से युक्त वह विज्ञान है, जो मानव-मन को विराट् तथा व्यापक ज्ञान-जगत् के प्रति खोल देता है। इसे कौन करता है? शिक्षक – गुरु। हमारी शिक्षण की वृत्ति में एक बार फिर वह आत्मसम्मान और स्वयं तथा अपने कार्य के प्रति विश्वास का भाव आना चाहिए। दुर्भाग्यवश समाज का शिक्षकों पर से विश्वास उठ जाने के पहले वे स्वयं ही अपनी शिक्षण-वृत्ति पर विश्वास खो बैठे हैं। उन्हें इस विश्वास को प्राप्त करना होगा – "मैं राष्ट्र का काम कर रहा हूँ। मैं राष्ट्र-निर्माण और मानव-निर्माण में लगा हूँ। मेरी वृत्ति उत्तम है।" जब आपमें अपने कार्य के प्रति यह विश्वास आ जाएगा, तब राष्ट्र भी आपके महत्त्व तथा मर्यादा को पहचानेगा और उसके अनुरूप आपको सामाजिक सम्मान प्रदान करेगा। इसीलिए मैं इस बात पर बल दिया करता हूँ कि हमारे शिक्षकों का राष्ट्रीय उत्तरदायित्व और उनकी राष्ट्रीय भूमिका प्रबल रूप से हमारे देश को प्रभावित करनेवाली है। मैं आशा करता हूँ कि आप लोग स्वयं को पुनर्शिक्षित करेंगे और इस भूमिका को निभाने के लिए स्वयं को उन्नत करेंगे। मैंने 'पुनर्शिक्षा' शब्द का प्रयोग किया है। आज सम्पूर्ण भारत में हमारे पास बहुत-से शिक्षित लोग हैं और उसमें से अधिकांश को पुनर्शिक्षा की आवश्यकता है, ताकि वे लोग स्वाधीन भारत के एक स्वाधीन तथा उत्तरदायी नागरिक और हमारे नव-प्रजातंत्र के लिए शक्ति का स्रोत बन सकें।

❖ (क्रमश:) ❖

कृष्ण-अर्जुन-संवाद का रहस्य (३/१)

स्वामी शिवतत्त्वानन्द

(रामकृष्ण मठ, नागपुर द्वारा प्रकाशित मराठी में 'भगवद्गीतांचा अन्तरंगात' अपने ढंग की अनूठी पुस्तक है। 'विवेक-ज्योति' में धारावाहिक प्रकाशन हेतु इसका हिन्दी रूपान्तर किया है श्रीमती ज्योत्सना किरवई ने, जिसे हम जनवरी अंक से क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। – सं.)

हमने देख लिया कि 'स्वधर्म' – जो जगत् तथा जीवन के अन्तिम सत्य की प्राप्ति का मार्ग है, उसका अनुष्ठान करने के लिए रणभूमि मे आये हुए अर्जुन के हृदय में, ठीक शस्त्र-चालन शुरू होने के पूर्व, उनमें सहसा स्वजनों के प्रति सुप्त आसक्ति जाग्रत हो जाने से, उनमें शोक-मोह-अविवेक प्रगट होने के कारण वे 'स्वधर्म' अर्थात् युद्धरूपी अपने कर्तव्य का त्याग करने के लिए उद्यत हुए थे। जो 'स्वजन-आसक्ति' इस अनर्थ-शृंखला का मूल कारण है, उसके 'अहं-मम' या 'मैं-मेरा' की भ्रान्तिबोध से उत्थित होने के कारण भगवान ने अर्जुन को उस भ्रान्तिबोध को दूर करनेवाला 'आत्मज्ञान' अर्थात् 'मैं-मेरा' के सच्चे स्वरूप का ज्ञान दिया। और वह ज्ञान या बोध, पूर्णतया साधक की आध्यात्मिक उन्नति अर्थात् चित्तशुद्धि पर निर्भर होने के कारण, इस बोध की प्राप्ति के साधन के रूप में भगवान ने अर्जुन को 'कर्मयोग' का उपदेश दिया।

सब कुछ बताने के बाद अन्त में भगवान ने कहा – हे अर्जुन, कर्मयोग से चित्त शुद्ध होकर आत्मबोध-अनुभव की जो पात्रता प्राप्त होती है, वह इस कर्मयोग के 'कर्म' से नहीं, बल्कि उसमें स्थित 'योग' से अर्थात् उसमें स्थित 'प्रभु, मैं और मेरा नहीं, बल्कि 'तू-तेरा' इस बोध से होती है। कर्मयोग के इस योग या बोध – इस बुद्धियोग की तुलना में 'कर्म' बिल्कुल ही तुच्छ है। अत: तुम इस बोध का आश्रय लो।

* * *

बेचारे अर्जुन समझ नहीं पा रहे थे कि यदि कर्म में बोध ही महत्त्वपूर्ण और मूल बात है, तो फिर सीधे-सादे उसी बोध को मन पर अंकित करने का प्रयत्न छोड़कर इस निर्दय नरहत्या का आश्रय लेने की क्या जरूरत है?

अर्जुन को समझ में नहीं आ रहा था कि श्रीकृष्ण ने उन्हें – " 'बोध' की तुलना में 'कर्म' यदि एकदम तुच्छ है, अतएव तुम उस बोध को ही आश्रय लो" – ऐसा कहने के बाद अब उन्हें ऐसा क्यों कह रहे है – **मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि** – "कर्म न करना तुम्हें कदापि मधुर न लगे।"

* * *

और इसलिए मन-ही-मन इस संघर्षमय विचारों से आकुल और परेशान होकर अर्जुन प्रभु से पूछते हैं – "हे केशव, हे जनार्दन, कर्म की अपेक्षा बोध श्रेष्ठ है – यदि ऐसा ही तुम्हारा निश्चित मत है, तो फिर आप क्यों मुझसे युद्धरूपी यह भीषण कर्म करवाना चाहते हैं? (इस कर्म को छोड़कर सीधे ही उस बोध में डूबने का प्रयत्न करना ही क्या मेरे लिए उचित तथा श्रेयस्कर नही होगा?)"

अर्जुन कहते हैं – "हे प्रभो, आपने कई प्रकार की पेंचीदी बातों से मानो मुझे उलझन में डाल दिया है। अत: जिससे मेरा कल्याण हो, ऐसा कुछ ठोस मुझे बताइये। (बताइये कि मैं इस आत्म-विषयक 'बोध' में डूब जाऊँ या फिर 'कर्मयोग' का आचरण करूँ?)"

– २ –

आत्म-विषयक 'बोध' में डूब जाना मानो अर्जुन की अपनी ही इच्छा पर निर्भर था! 'बोध में डूब जाना' और 'कर्मयोग का आचरण करना' – इन दोनों में से किसी एक को अपनाना मानो अर्जुन की अपनी पसन्द या इच्छा का ही प्रश्न था! बेचारे अर्जुन!

* * *

वस्तुत: देखा जाय तो भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को 'निश्चित रूप से क्या है' – यह बिल्कुल असन्दिग्ध रूप से, स्पष्ट रूप से नहीं बताया था क्या? उन्होंने बताया था – **कर्मणि एव अधिकार: ते** – "हे अर्जुन, कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है; बोध में डूब जाना यही यदि आत्मज्ञान का सच्चा उपाय हो, तो भी आज तुम्हें वह अधिकार प्राप्त नहीं है, तुममें वैसी पात्रता नहीं है, क्योंकि यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि आज तुम्हारे हृदय में उस आत्मबोध का स्फुरण नहीं हुआ है। इसलिए आज तुम्हारा अधिकार, तुम्हारी पात्रता कर्मयोग की ही है। अत: उस बोध का आश्रय लेकर तुम कर्म करते जाओ, क्योंकि बोध ही असल बात है, कर्म नहीं।"

इसके अलावा 'बोध में डूब जाना', 'आत्मबोध तथा कर्मयोग' – में से किसी एक को स्वीकार करना क्या सचमुच ही अर्जुन की इच्छा, पसन्द या मर्जी पर निर्भर था?

और श्रीकृष्ण के कथन में 'अभी कुछ और बाद में दूसरा' – ऐसी पेंचीदी तथा उलझन में डालनेवाली बात भी क्या थी?

* * *

तथापि अर्जुन को सचमुच ही वैसा लगा। 'सचमुच ही' – इस शब्द के प्रयोग का कारण यह है कि अर्जुन पूरी ईमानदारी

के साथ बिल्कुल हृदय से, एकदम दीन-हीन होकर वैसा कह रहे हैं, पूछ रहे हैं।

– ३ –

वस्तुत: ऐसा होना नहीं चाहिए था। क्योंकि भगवान ने अर्जुन को 'सांख्यबुद्धि' (आत्मबोध में डूब जाना) एवं 'योगबुद्धि' (कर्मयोग का आचरण करना) – इन दोनों 'बुद्धि' या 'बोध' के बारे में बताया तो था, परन्तु ये दोनों 'बोध' बताने के पश्चात् **कर्मणि एव अधिकार: ते** – तुम्हारा कर्म में ही 'अधिकार' है। ऐसा उन्होंने उन्हें स्पष्ट रूप से बता दिया था।

'अधिकार' का अर्थ है पात्रता। भगवान ने जब कहा – तुम्हारा कर्म में ही अधिकार है – तब इसका स्पष्ट तात्पर्य क्या यह नही था – "तुम्हारा आत्मबोध में डूब जाने का अधिकार नहीं, पात्रता नहीं है ?"

इसके बावजूद 'अधिकार' या 'पात्रता' के इस मुद्दे की ओर अर्जुन का ध्यान ही नहीं गया, जा ही नही सका। नही तो, अर्जुन ने ऐसा कहा ही नही होता – "आत्मबोध में डूबना ही यदि अधिक महत्त्वपूर्ण है, तो फिर आप मुझे कर्म करने के लिए क्यो कहते है?"

– ४ –

अब प्रश्न उठता है कि इस 'अधिकार' अर्थात् 'पात्रता' का मुद्दा अर्जुन के समान मेधावी के ध्यान में क्यों नहीं आया? – क्यों नही आ सका?

* * *

प्रश्न स्पष्ट है। उत्तर अर्जुन की मन:स्थिति में छिपा है।

* * *

अर्जुन की मन:स्थिति की ओर दृष्टिपात करने पर क्या दिखाई देता है?

दिखता है कि उनके हृदय में स्वजनों के बारे में उमड़ी हुई प्रचण्ड आसक्ति तथा उससे उत्पन्न शोक-मोह-अविवेक आदि तीव्रता के साथ स्पन्दित हो रहे हैं। स्वाभाविक रूप से उनके मन मे स्वजन-विनाशकारी युद्ध को 'टालने' की प्रबल इच्छा हलचल मचाए हुए है। इस मन:स्थिति में उन्होंने सुना कि – 'कर्म की अपेक्षा उसमें निहित बोध ही श्रेष्ठ है, वह बोध ही असली है।' इसका परिणाम? परिणाम स्पष्ट है – वे पूरी ईमानदारी के साथ सच्चे हृदय से दयार्द्र होकर पूछ रहे हैं – "क्यों न इस कर्म को 'टालकर' बोध में ही 'डूब जाऊँ'?"

आसक्ति-शोक-मोह-अविवेक के कारण, युद्ध को 'टालने' की प्रबल इच्छा के कारण अर्जुन ने श्रीकृष्ण के 'अधिकार' विषयक आदेश को सिर्फ कानों से सुना, उनके मन ने उसे ग्रहण नही किया, वह वैसा कर नहीं सका – उनके 'मन' तथा उनकी 'मन:स्थिति' की ओर ध्यान दें, स्पष्ट रूप से दीख पड़ता है कि वैसा होना कितना सहज और स्वाभाविक था।

– ५ –

"मेरे कथन मे 'अभी कुछ और बाद में कुछ दूसरा' वस्तुत: ऐसा कुछ नही है। 'बोध में डूबना' यह केवल किसी की इच्छा पर निर्भर नही होता, 'बोध में डूबे' या 'कर्मयोग का आचरण करें' – यह किसी की इच्छा या पसन्द का प्रश्न नहीं, अपितु साधक के अन्तर्विकास का प्रश्न होता है।" यह स्पष्ट करते और बताते हुए कि गुत्थियाँ-गड़बड़ वस्तुत: मेरी ओर से न होकर, वह सब तुम्हारी ही ओर से है, मैंने तुम्हें तुम्हारा जो कर्तव्य है, वह बताने के लिए 'अधिकार' शब्द का प्रयोग कर बिल्कुल असन्दिग्ध रूप से ही बतलाया है – इस तरह के मनोभाव से अपने कथन को और अधिक सुस्पष्ट तथा सुविस्तृत करते हुए भगवान बोले –

लोकेस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।

– "हे निष्पाप अर्जुन, मैंने पहले ही बता दिया है कि इस मर्त्यलोक में दो प्रकार की निष्ठाएँ, दो प्रकार की स्थितियाँ हैं – सांख्यो अर्थात् जिनके निर्मल अन्त:करण में 'मैं-मेरा' का सत्य-स्वरूप अर्थात् आत्मबोध या ब्रह्मबोध स्फुरित हो सकता है, उनकी निष्ठा या स्थिति ज्ञानयोग में होती है। और योगियो अर्थात् जिनके अन्त:करण में आत्मबोध या ब्रह्मबोध का वैसा स्फुरण नही हुआ है, तथापि जो उस बोध से युक्त होने की चेष्टा करते हैं उनकी निष्ठा या स्थिति कर्मयोग में रहती है।"

* * *

अपने कथन को स्पष्ट, सुबोध तथा असन्दिग्ध रीति से व्यक्त करने के लिए भगवान ने उपरोक्त विधान में अतीव गूढ़, अतीव मार्मिक तथा अतीव अर्थपूर्ण शब्दों का प्रयोग किया है, वे शब्द हैं – **द्विविधा निष्ठा** – दो प्रकार की निष्ठाएँ।

प्रभु ने – **द्वे निष्ठे** – इस मनुष्य-लोक में ज्ञानयोग तथा कर्मयोग – ये दो निष्ठाएँ हैं, ऐसा नहीं कहा। बल्कि कहा – "ज्ञानयोग तथा कर्मयोग – ये दो प्रकार की निष्ठाएँ होती हैं" – और इस प्रकार अति गहन अर्थ का विधान किया है।

* * *

इस श्लोक पर भाष्य करते हुए इन गूढ़ शब्दों तथा उनके गहन अर्थ की ओर अचूकता से इंगित करते हुए श्रीधर स्वामी अपनी सुबोधिनी टीका में कहते हैं –

"यदि मया परस्परनिरपेक्षं मोक्षसाधत्वेन कर्मज्ञानयोग-रूपं निष्ठाद्वयं उक्तं स्यात्, तर्हि 'तयो: द्वयो: मध्ये यत् भद्रं तत् एकं वद' इति त्वदीय प्रश्न: संगच्छते, न तु मया तथा उक्तं, किं तु द्वाभ्यां एका एव ब्रह्मनिष्ठा उक्ता, गुणप्रधान-भूतयो: तयो: स्वातंत्र्यानुपपत्ते:। एकस्या: एव तु प्रकार-भेदमात्रम् अधिकारभेदेन उक्तम् इति। अस्मिन् शुद्धाशुद्ध-

अन्त:करणतया द्विविधे लोके अधिकारजने, द्वे विधे प्रकारौ यस्या: सा द्विविधा निष्ठा मोक्षपरता पुरा पूर्वाध्याये मया सर्वज्ञेन प्रोक्ता स्पष्टमेव उक्ता । प्रकारद्वयम् एव निर्दिशति । सांख्यानां शुद्धान्त:करणानां ज्ञानभूमिकाम् आरूढानां ज्ञानपरिपाकार्थं ज्ञानयोगेन ध्यानादिना निष्ठा ब्रह्मपरता उक्ता .... । सांख्य-भूमिकाम् आरुरुक्षुणां तु अन्त:करणशुद्धिद्वारा तदारोहार्थं तदुपायभूत-कर्मयोग-अधिकारिणां योगिनां कर्मयोगेन निष्ठा उक्ता ... । अत: एव चित्तशुद्धि-अशुद्धि-रूप-अवस्थाभेदेन एवं द्विविधा अपि निष्ठा उक्ता 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धियोगे त्विमां शृणु' इति ।''

अर्थात् – ''हे अर्जुन, यदि मैंने तुमसे कहा होता कि 'कर्मयोग एवं ज्ञानयोग ये दो भिन्न भिन्न निष्ठाएँ हैं और उनसे परस्पर निरपेक्ष रूप में अर्थात् एक का दूसरे से जरा-सा भी सम्बन्ध आए बिना मोक्ष प्राप्त होता है' तभी 'कर्म व ज्ञान – इन दोनों में से जो श्रेष्ठ हो, उस एक को मुझे बताइए' – तुम्हारा यह प्रश्न सुसंगत रहा होता। परन्तु मैंने वैसा बिल्कुल भी नहीं कहा है। बल्कि ज्ञाननिष्ठा एवं कर्मनिष्ठा – इन दोनों को मैंने एक ही निष्ठा बताया है और वह है ब्रह्मनिष्ठा। उनमें से एक (कर्मनिष्ठा) गौण एवं दूसरी (ज्ञाननिष्ठा) प्रधान होने के कारण ये दोनों एक दूसरे से स्वतंत्र या परस्पर निरपेक्ष रह ही नहीं सकती। मैंने तो केवल यही कहा कि 'अधिकारभेद से ब्रह्मनिष्ठा के ही ये दो भेद होते हैं – कर्मनिष्ठा एवं ज्ञाननिष्ठा। अन्त:करण की शुद्धता तथा अशुद्धता के कारण लोगों (साधकों) के दो प्रकार होते हैं, इसीलिए मेरे जैसे सर्वज्ञ ने भी पिछले अध्याय में असन्दिग्धतापूर्वक निष्ठा अर्थात् मोक्षपरायणता के दो प्रकार बताए हैं। एक ही ब्रह्मनिष्ठा के दो प्रकार कौन कौन से? तो जिनका अन्त:करण शुद्ध है और इसीलिए जो ज्ञान की भूमि में आरूढ़ हो चुके हैं, ऐसे साधकों में वह ज्ञान सिद्ध होने के लिए, उनके लिए मैंने ज्ञानयोग अर्थात् ध्यान आदि से ब्रह्मनिष्ठा या ब्रह्मपरायणता बतायी है। परन्तु जो इन ज्ञानी साधकों की उच्च भूमि तक नहीं पहुँचे हैं, तथापि जो उस भूमि पर आरूढ़ होने की इच्छा रखते हैं, उनका अन्त:करण शुद्ध हो जाय और वे उस भूमि पर आरूढ़ हो सकें, इसलिए अधिकार-भेद के अनुसार मैंने उनके लिए कर्मयोग से ब्रह्मनिष्ठा बतायी है। क्योंकि **कर्मनिष्ठा ही ज्ञाननिष्ठा प्राप्ति का साधन है**। इसलिए – **एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धियोगे त्विमां शृणु** – श्लोक में मैंने केवल चित्त की शुद्धता तथा अशुद्धता के चलते एक ही ब्रह्मनिष्ठा के 'ज्ञाननिष्ठा' तथा 'कर्मनिष्ठा' नामक दो प्रकार बताए हैं, बस इतना ही।''

* * *

संक्षेप में, आसक्ति-शोक-मोह-अविवेकादि से ग्रस्त अर्जुन को युद्ध 'टालना' था, इसीलिए ही उन्हें भगवान के उपदेश में पहले एक और बाद में दूसरा' दिखा। 'उलझन' में डालनेवाली 'गुत्थियाँ' दिखीं। अर्जुन को युद्ध 'टालना' था, इसीलिए श्रीकृष्ण के ऐसा बताने पर भी कि 'तुम कर्म के अधिकारी हो, अतएव तुम कर्मयोग का आचरण करो, परन्तु ध्यान रहे कि कर्म की अपेक्षा कर्म में स्थित बोध यही असली है' – अर्जुन स्वयं के अधिकार अर्थात् पात्रता को पूर्णत: विस्मृत करके पूछने लगे – 'तो फिर कर्म न कर मेरा सीधे ही उस बोध में डूब जाना श्रेयस्कर नहीं है क्या?'

इसीलिए हमारे जैसे सामान्य साधकों के अन्त:करण में जब तक 'आत्मबोध' जाग्रत नहीं होता, तब तक चित्तशुद्धि द्वारा उसे जगाने के लिए 'बोधयुक्त कर्म' अर्थात् 'निमित्त मात्र' या 'यंत्र-यंत्री' बोध से कर्मयोग का आचरण करना होगा। तभी क्रमश: 'अधिकार' या 'पात्रता' बढते हुए, अधिकाधिक उच्च अवस्थाओ में आध्यात्मिक उन्नति होते हुए, अन्त में हमारा जीवन कृतार्थ हो सकेगा। अन्यथा हमारी आध्यात्मिक स्पृहा, चाहे वह कितनी भी सच्ची हो, तो भी विफलता ही हमारे हाथ लगेगी।

* * *

यही बात, यही सत्य श्री रामानुजाचार्य ने इस श्लोक के अपने भाष्य में अत्यन्त हृदयस्पर्शी तरीके से बताई है –

पुरा उक्तं न सम्यक् अवधृत त्वया, पुरा अपि अस्मिन् लोके विचित्राधिकारसंपूर्णे द्विविधा निष्ठा ज्ञानकर्म-विषया यथा-धिकारम् असंकीर्णा एव मया उक्ता । न हि सर्वा लौकिक: पुरुष: संजात-मोक्षाभिलाष: तदानीम् एव ज्ञानयोगाधिकारे प्रभवति, अपि तु अनभिसंहितफलेन केवल-परमपुरुष-आराधन-रूपेण अनुष्ठितेन कर्मणा विध्वस्त-मनो-बल: अव्या-कुलेन्द्रिय: ज्ञाननिष्ठायाम् अधिकरोति ।... अत: सांख्यानाम् एव ज्ञानयोगेन स्थिति: उक्ता, योगिनां तु कर्म-योगेन ।... इति न किंचित् इह विरुद्धं न अपि व्यामिश्रम् अभिहितम् ।

अर्थात् – ''हे अर्जुन, मैंने पहले जो कुछ बतलाया था, उसे तुमने ठीक से समझा नहीं। इस जगत् में भिन्न भिन्न तरह के अधिकारी होते हैं, इसलिए अधिकारानुसार अर्थात् पात्रतानुसार ज्ञान तथा कर्म इन दोनों के विषय में दो अलग अलग प्रकार की निष्ठा मैंने पहले बताई थी। सामान्य संसारी जीव मोक्ष की इच्छा उत्पन्न होने पर तत्काल ही ज्ञानयोग के पात्र नही बनते। बल्कि वैराग्य के बल पर फल की आकांक्षा को त्यागकर, केवल उस परम पुरुष की आराधना करने के लिए किये गये कर्मो से जिनके हृदय का मल नष्ट हो चुका है तथा जिनकी सारी इन्द्रियाँ शान्त हो चुकी हैं, वे ही ज्ञाननिष्ठा के अधिकारी बन सकते हैं। ... इसलिए मैंने सांख्यों की ही ज्ञानयोग मे स्थिति बताई; केवल योगियों की ही कर्मयोग मे स्थिति हो सकती है। ... इसमें परस्पर-विरोधी कुछ भी नहीं है। या फिर मैंने उलझाऊ या पेंचीदगी से भरा कुछ भी नहीं कहा।''

* * *

इस श्लोक के अर्थ को खोलकर समझाते हुए ज्ञानेश्वर महाराज अपनी अनुकरणीय शैली में से अत्यधिक सटीक तथा मार्मिक दृष्टान्त देते हुए कहते हैं –

हे मार्गु तरी दोनी । परी एकवटती निदानीं ।
जैसी सिद्धसाध्यभोजनीं । तृप्ती एक ।।

अर्थात् – "ज्ञानयोग और कर्मयोग – ये दोनों मार्ग यदि दो दिख भी रहे हों, तो भी अन्त में जाकर वे एक हो जाते हैं। पका हुआ अन्न तथा कच्चा सीधा में जो फरक है, वही इन दोनों मे है। भोजन पकाने के पहले तो अन्न कच्चा ही होता है और सीधा. अन्न भी पकने के बाद भोजन ही बनता है। इसलिए इन दोनों से अन्त मे एक ही तृप्ति मिलती है।"

– ६ –

हाँ तो, सार बात यह है कि संसरण – अविराम जन्म-मरण की शृंखला में कारणीभूत होनेवाले आसक्ति-हर्ष-शोक-मोह-अविवेक आदि दोष जिसमें प्रकट होते हैं, उस 'अहं-मम' बोधरूपी भ्रान्तिरूपी बोध का निराकरण करनेवाले आत्मबोध में 'डूब' जाना – यह किसी की इच्छा पर निर्भर नही करता; उस 'आत्मबोध में डूबना' और 'कर्मयोग का आचरण' – इन दोनों में से किसी एक को अपनाना भी किसी की मर्जी या पसन्द से नहीं होता, यह तो पूरी तौर से साधक के अधिकार या मानसिक पात्रता पर अर्थात् चित्तशुद्धि-जन्य आध्यात्मिक उन्नति के उसके स्तर पर निर्भर करता है।

जो जिस स्तर पर, जिस सीढ़ी पर खड़ा है, उसे वहीं से ऊपर जाना होता है। इसमें अपनी इच्छा, पसन्द, मर्जी, हठ या श्रेष्ठत्व-भाव (superiority complex) आदि या किसी के अनुकरण का प्रश्न ही नहीं उठ सकता।

अर्जुन को इस कटु, पर परम पोषक, आध्यात्मिक विकास के लिए अति अपरिहार्य सत्य का बोध कराते हुए प्रभु बोले –

न कर्मणाम् अनारम्भात् नैषकर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यासनात् एव सिद्धिं समधिगच्छति ।।

– "हे अर्जुन, कर्म का अनुष्ठान न करने मात्र से ही कोई उस कर्ता-कर्म-क्रिया-बोध-रहित या अहं-मम-भ्रान्ति-बोध-रहित आत्मबोध में डूब नहीं जाता। या यथा-आवश्यक चित्तशुद्धि करके, अधिकार या पात्रता की उपलब्धि करके हृदय में आत्मबोध का स्फुरण होने के पहले ही, किये जाते हुए कर्म को छोड़ देने मात्र से ही कोई सिद्ध नही हो सकता।"

ठीक ही तो है। घाव पर पपड़ी जमे बिना खून बहना रुकता नही और न जमनेवाली पपड़ी को जबरदस्ती खीचकर निकालने से भी खून का बहना रुकनेवाला नही है। पपड़ी जमकर उसे अपने आप ही गिरना होगा। 'आत्मबोध' का स्फुरण होकर 'कर्ता-कर्म-क्रिया-बोध' अर्थात् 'मैं-मेरा' का भ्रान्ति-बोध जब तक स्वयं ही गलकर गिर नहीं जाता, तब तक कर्मयोग का – 'प्रभो, मैं-मेरा नही, बल्कि तू और तेरा' अथवा 'निमित्त-मात्र' या 'यंत्र-यंत्री' के बोध के साथ स्वकर्म का आचरण करते रहना ही कल्याणकारी होता है।

भगवान के कथन का 'रहस्य' यही है। कर्म शुरू न करने से अन्त:करण में आत्मबोध का स्फुरण नहीं होगा, शुरू किया हुआ कर्म बीच में ही छोड़ देने से भी आत्मबोध का स्फुरण नही होगा; बल्कि कर्मयोग से – उचित बोध के साथ कर्म करते रहने से, हृदय में धीरे धीरे आत्मबोध स्फुरित होने लगेगा और ऐसा होने पर, फिर उस आत्मबोध के स्फुरण मे पूर्णतया डूबने से ही अनात्मबोध या अहं-मम-भ्रान्ति-बोध या कर्ता-कर्म-क्रिया-बोध यथासमय पूर्णत: निरस्त हो जाएगा। इसे छोड़ दूसरा कोई मार्ग या उपाय नहीं है।

इसीलिए भगवान सुनिश्चित शब्दों में कहते हैं –

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वर: ।।

– "हे अर्जुन, सबकी आत्मा रूपी मुझ परमेश्वर को अपने सभी कर्म समर्पित करो। और आत्मस्वरूप पर चित्त स्थिर रखकर 'मैं-कर्ता हूँ, मैं यह कर्म कर रहा हूँ, मैं इसका फल भोगूँगा' – इस तरह की फलाभिलाषा तथा अहंभाव को मन में न आने देकर, शोक छोड़कर तुम युद्ध – स्वधर्म के अनुसार प्राप्त हुए इस कर्म को करो।"

❖ (क्रमश:) ❖

अनमोल उक्तियाँ

* व्यक्ति जीवन में जो कुछ उपलब्धि करता है, वह उसके अपने विचारों का सीधा परिणाम होता है। वह अपने विचारों को ऊपर उठाकर ही परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर सकता है और कोई उपलब्धि हासिल कर सकता है। दूसरी ओर अपने विचारों को संकीर्ण बनाये रखकर ही वह दुर्बल, दयनीय तथा दुखी बना रहता है।

* हमसे दूर जो कुछ अस्पष्ट रूप से पड़ा हुआ है उसे देखना नहीं, बल्कि हमारे हाथ के पास जो कुछ स्पष्ट रूप से दिख रहा है उसे करना ही हमारा कर्तव्य है।

* व्यस्त बने रहो। चिन्तित व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने काम-काज मे भुलाए रखे, अन्यथा वह हताशा के कारण बिखर जायेगा।

* तय करने या योजना बनाने में निराशावादी बनो, पर उसके क्रियान्वन में आशावादी।

गीता में मोक्ष की अवधारणा

दुर्गाप्रसाद झाला

भारतीय संस्कृति और साधना में 'मोक्ष' को मानव जीवन का चरम मूल्य माना गया है। **मोक्ष कर्मबन्धन से मुक्ति के सिवा आत्मा की परमानन्दमयी निर्द्वन्द्व अवस्था का भी द्योतक है।** आत्मा का मूल स्वरूप आनन्दमय ही माना गया है और इसी रूप में वह परमात्मा का भी पर्याय है। आत्मा का अपने मूल मे स्थित होना ही, आत्मा का परमात्मा में विलीनीकरण है। परमात्मा को भी तो इसी रूप में परिभाषित किया गया है – '**रसो वै रसः**' – वह रसरूप है अर्थात् चिर आनन्दमय है। वस्तुतः 'आनन्द' ही परमात्मा अथवा ब्रह्म है। अतएव स्पष्ट है जीवात्मा की आनन्दमय कोष में स्थिति ही मोक्ष है – आत्मा का परमात्मा में विलीनीकरण है।

स्वामी विवेकानन्द ने 'मोक्ष' को 'सम्पूर्ण निःस्वार्थता' के रूप में ग्रहण किया है। उनका कथन है – "मान लो, किसी मनुष्य ने इस सम्पूर्ण निःस्वार्थता को प्राप्त कर लिया, तो फिर उसकी क्या दशा हो जाती है? फिर वह अमुक नामवाला पहले का क्षुद्र व्यक्ति नही रह जाता. वह अनन्त विस्तार प्राप्त कर लेता है। फिर उसका पहले का वह क्षुद्र व्यक्तित्व सदा के लिए नष्ट हो जाता है – अब वह अनन्त स्वरूप हो जाता है। **मानव जीवन के चरम लक्ष्य, इस मुक्ति को निःस्वार्थ कर्म द्वारा प्राप्त कर लेना ही कर्मयोग है।** जब तक वह अपने स्वयं के लिए विचार करता है, कोई कार्य करता है, या कुछ कहता है, तभी तक उसे अपने निजत्व का बोध रहता है। परन्तु यदि उसे केवल दूसरों के सम्बन्ध में ध्यान है, जगत् के सम्बन्ध में ध्यान है, तो फिर उसका 'निजत्व' भला कहाँ रहा? उसका तो सदा के लिए लोप हो चुका है।

"अतएव 'कर्मयोग' निस्वार्थपरता तथा सत्कर्म द्वारा मुक्ति पाने का एक धर्म और नीतिशास्त्र है। कर्मयोगी को किसी भी प्रकार के सिद्धान्त में विश्वास करने की जरूरत नहीं। वह ईश्वर में भी चाहे विश्वास करे या न करे, आत्मा की खोज करे या न करे, किसी प्रकार का दार्शनिक विचार भी करे या न करे, इससे कुछ बनता बिगड़ता नही। उसके समक्ष उसका अपना लक्ष्य रहता है – निःस्वार्थता की उपलब्धि और उसके अपने प्रयत्न द्वारा ही उसे प्राप्त करना है। ... किसी भी कार्य में यदि जरा-सा भी स्वार्थ रहे, तो वह मुक्त करने के बदले हमारे पैरों में एक और बेड़ी डाल देता है। अतः एकमात्र उपाय है – **समस्त** कर्मफलों का त्याग कर देना, अनासक्त हो जाना।"[१]

गीता में भी इस सम्पूर्ण जगत् और प्रकृति को परमात्मा से अभिन्न माना गया है। इसके सातवें अध्याय के सातवें श्लोक में भगवान स्पष्ट शब्दों में अर्जुन से कहते हैं – इस जगत् की कोई भी वस्तु मेरे से भिन्न नही है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत में सूत की मणियों की तरह मुझमे ही गुँथा हुआ है –

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७/७

इसकी व्याख्या करते हुये स्वामी रामसुखदास जी कहते हैं – "यह सारा संसार सूत में सूत की ही मणियो की भाँति मुझमें पिरोया हुआ है अर्थात् मैं ही सारे संसार मे व्याप्त हूँ। जैसे सूत से बनी मणियो मे और सूत में सूत के सिवाय और कुछ नही है, ऐसे ही संसार में मेरे सिवाय अन्य कोई तत्व नही है। तात्पर्य यह है कि जैसे सूत में सूत की मणियाँ पिरोयी गयी हों, तो दीखने में मणियाँ और सूत अलग अलग दीखते हैं, पर वास्तव में उनमें सूत एक ही होता है। ऐसे संसार में जितने भी प्राणी हैं, वे सभी नाम-रूप-आकृति से अलग अलग दीखते हैं. पर वास्तव में व्याप्त रहने वाला चेतन तत्व एक ही है। वह चेतन तत्व मैं ही हूँ।" –

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ॥ १३/२

– अर्थात् "मणिरूप अपरा प्रकृति भी मैं ही हूँ और धागा रूप परा प्रकृति भी मैं ही हूँ।"

साधक जब संसार को संसार-बुद्धि से देखता है, तब उसे संसार में परिपूर्ण रूप से व्याप्त परमात्मा नही दीखते। जब उसको परमात्म-तत्त्व का वास्तविक बोध हो जाता है, तब व्याप्य-व्यापक भाव मिटकर एक परमात्म-तत्त्व ही दीखता है। गीता के सातवें अध्याय के चौथे और पाँचवे श्लोक में भगवान अपनी मूल प्रकृति को दो भागों में विभाजित करते हैं – **अपरा और परा।** अपरा प्रकृति के अन्तर्गत पंच महाभूत एवं मन, बुद्धि व अहंकार आते है। 'जीव' को परा प्रकृति माना गया है, जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है। फिर सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति इन दोनों प्रकृतियो से ही मानी गई है –

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ॥ ७/६/१

इस प्रकार जब प्रकृति और परमात्मा अभिन्न हैं, तब प्रकृति या भूत-जगत् को भी असत्य कैसे माना जा सकता है। उसका अस्तित्व है, इसलिए वह सत्य है। गीता मे ही कहा गया है –

नासतो विद्यते भावो न भावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिनः ॥ २/१६

– असत् का तो अस्तित्व नही है और सत् का अभाव नही है। तत्त्वदर्शियों द्वारा इन दोनो का ही तत्त्व देखा गया है।

गीता के पन्द्रहवे अध्याय के पहले श्लोक मे भी संसार रूप पीपल के वृक्ष को अविनाशी कहा गया है –

१. विवेकानन्द संचयन, कर्मयोग का आदर्श, पृ. १८-२४

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् । १५/१

इसी प्रकार इसी अध्याय के तीसरे श्लोक में स्पष्ट रूप से कहा गया है – इस संसार का न आदि है, न अन्त है और न दृढ़ स्थिति ही –

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते,
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलम्
असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा ।। १५/३

अतः स्पष्ट है कि गीता प्रकृति या जगत् को असत्य नहीं, उसे परमात्म-रूप में ही देखती है । वह अन्यत्र कहती है –

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।। ६/३०

– जो सबमें मुझको देखता है, उसके लिए मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिए अदृश्य नही होता ।

जब सर्वभूत और परमात्मा की ऐसी अभिन्न स्थिति स्थापित हो जाती है, तब परमात्मा में पूर्ण विलय अथवा मोक्ष की स्थिति का स्वरूप क्या होगा? तब व्यक्ति-चेतना का समष्टि-चेतना में विलीनीकरण ही आत्मा का परमात्मा में विलीनीकरण माना जाना चाहिए था । दूसरे शब्दों मे व्यक्ति का समष्टिमय हो जाना ही मोक्ष है । और जीवनावस्था में यह स्थिति तब आती है जब व्यक्ति स्वार्थरहित भावना से समष्टि हित के उदात्त कर्म में अपने निजत्व का लोप कर देता है । उस स्थिति में व्यक्ति अपने सुख-दुःख की चेतना से मुक्त हो जाता है । लोक-कल्याण की भावना में डूबकर वह एक प्रकार के उदात्त आनन्द की सत्ता में अपनी वैयक्तिक चेतना की सुख-दुःखात्मक द्वन्द्वमयी सत्ता को विलीन कर देता है । तब वह द्वन्द्वातीत हो जाता है, और यह द्वन्द्वातीत स्थिति ही परमानन्द की स्थिति है । और यह बात पहले ही स्पष्ट हो चुकी है कि परमात्मा आनन्दरूप ही है – **'रसौ वै रसः'** ।

गीता में ऐसी ही सुख-दुःखातीत निर्द्वन्द्व स्थिति को ही मोक्ष का मार्ग माना गया है –

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ।। २/१५

– "हे पुरुष-श्रेष्ठ अर्जुन ! सुख-दुःख में सम रहनेवाले जिस धीर मनुष्य को ये मात्रास्पर्श (इन्द्रियों के विषय) व्यथित नहीं करते, वह अमर होने (मोक्ष-प्राप्ति) में समर्थ हो जाता है ।"

मनुष्य में यह द्वन्द्वतीत स्थिति तभी उत्पन्न होती है, जब वह फलासक्ति से रहित होकर, सिद्धि तथा असिद्धि में समभाव रखते हुए लोकहिताय कर्म करता है । ऐसे ही कर्म को यज्ञकर्म कहते हैं । डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के मतानुसार, "यज्ञार्थ कर्म कहें या निष्काम कर्म, एक ही बात है । कर्म-फल के त्याग से ही कर्म का यज्ञीय रूप बनता है" (भारत-सावित्री, पृष्ठ १७६) ऐसे यथार्थ कर्म ही मनुष्य को कर्मबन्धन से मुक्त करते हैं । लौकिक वासनाओं के प्रति वैयक्तिक आसक्ति से युक्त कर्म ही उसे बन्धन में डालते हैं । गीता के तीसरे अध्याय का यह श्लोक गीताकार की इसी धारणा को व्यक्त करता है –

यज्ञार्थात्कर्मणोन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ।। ३/९

इस श्लोक का मूल तात्पर्य समझाते हुए स्वामी रामसुख-दास जी कहते हैं – "साधक को भोग व ऐश्वर्य बुद्धि से कोई भी कर्म नही करना चाहिए, क्योकि ऐसी बुद्धि मे भोगासक्ति और कामना रहती है । ... सबसे उत्तम साधक तो वह है, जो अपनी मुक्ति के लिए भी कोई कर्म न करके केवल दूसरों के हितार्थ ही कर्म करता है ... कारण कि हित में ही अपना हित है । दूसरों के हित से अपना हित भिन्न मानना ही भूल है ।"

इसी अध्याय के १३वें श्लोक में लोकहिताय कर्म की भावना को और भी स्पष्ट कर दिया गया है –

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।। ३/१३

– यज्ञ से बचे हुए अन्न को खानेवाले श्रेष्ठ लोग सब पापों से छूटते हैं और जो पापी लोग अपने लिए ही पकाते हैं, वे तो पाप को ही खाते हैं ।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म-सनातनम् । ४/३१

इस सन्दर्भ में स्वामी रामसुखदास जी कहते हैं – "स्वरूप से मनुष्य अमर है । मरनेवाली वस्तुओं के संग से ही मनुष्य को मृत्यु का अनुभव होता है । इन वस्तुओं के संसार के हित में लगाने से जब मनुष्य असंग हो जाता है, तब उसे स्वतः सिद्ध अमरता का अनुभव हो जाता है ।"

जो कर्म केवल अपने लिए किया जाता है, वह कर्त्तव्य नहीं होता, प्रत्युत कर्म मात्र होता है, जिससे मनुष्य बँधता है । इसीलिए यज्ञ में केवल देना-ही-देना होता है, लेना केवल निर्वाह मात्र के लिए होता है । (गीता, ४/२१)

गीता के पाँचवें अध्याय के २५वें श्लोक मे तथा बारहवें अध्याय के ४थे श्लोक में तो सर्वभूतहित में रत रहनेवाले व्यक्ति के लिए कहा गया है कि वह ब्रह्म अथवा परमात्मा को प्राप्त हो जाता है । इन दोनों श्लोको में '**सर्वभूतहिते रताः**' पद योजना का प्रयोग हुआ है और यदि 'सर्वभूत' को ही पूर्व विवेचन के अनुसार 'परमात्म-तत्व' का स्वरूप माना जाए, तो सर्वभूत हित को परमात्मा की साधना ही माना जाएगा और ऐसी साधना करनेवाला व्यक्ति निस्सन्देह परमात्मा या उनके परमधाम को प्राप्त हो जाता है । अतः व्यक्ति का समष्टि-रूप हो जाना ही आत्मा का परमात्मा मे विलीन होना है । यही मोक्ष की स्थिति है और ऐसी स्थिति वैयक्तिक अहंता-ममता से मुक्त होने के कारण अनिवार्य रूप से आनन्द रूपा ही होती है ।

भारतीय जीवन का आदर्श

माणकलाल गुप्ता, शाजापुर (म.प्र.)

जीव-जगत् की सृष्टि से आज तक आदमी प्रभु-प्रदत्त जीवन जाता चला आ रहा है, लेकिन जीवन क्या है? कैसा होना चहिए? यह तलाश अद्यावधि जारी है। जहाँ तक मैं सोच पाता हूँ, यह प्रश्न काल की 'सीमा' में समा सकेगा, इसकी सम्भावना अत्यन्त क्षीण है। सत्य में यदि समय को मिला दिया जाय तो संसार बन जाता है और संसार में से समय को निकाल दिया जाए तो 'सत्य' शेष रह जाता है।

चूँकि जीवन समय-सापेक्ष है। इसलिए भिन्न भिन्न समयो में मनुष्य की मेधा ने भिन्न भिन्न प्रकार की जीवन-सरणियों से मानव-जीवन को आप्लावित व सुरभित किया है। सजग चित एवं जागृत आत्मा ने सदैव ही इन उदाहरणों से प्रोत्साहन एवं प्रेरणा पाकर अपने को आलोकित करने का प्रयास किया है।

भारत के सांस्कृतिक इतिहास में ऋषि-परम्परा एक ऐसा प्राण-रस से भरा महावृक्ष है, जिसमे प्रत्येक पतझर के बाद नये पत्ते उग आते हैं और महावृक्ष नया हो जाता है। अब तक ऐसे चार बड़े पतझरों से यह गुजर चुका है।

बुद्ध के पूर्व, फिर आठवीं शताब्दी के बाद, फिर पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद और फिर उन्नीसवी शताब्दी में पीत-जर्जर पत्र झड़े हैं और नये ताम्राभ हरित किसलय लगे हैं। बुद्ध और महावीर, शंकर-रामानुज, नानक-कबीर-तुलसी, दयानन्द और विवेकानन्द इस महावृक्ष के ही नए-ताजे पत्ते थे और यह महावृक्ष स्वयं अपना आकाश, अपनी नदी और अपना मरुत-प्रवाह बार बार रच लेता है।

वैदिक ऋषि की संस्कृति-साधना 'यज्ञ और काम' – इन दोनों मूल्यों को 'ऋत्' अर्थात् प्राणधर्म की मांगलिक समरसता में लेकर चलती है। यही काम और क्रतु अपने अपने ढंग से 'प्रेय और श्रेय' का दरवाजा खोल देते हैं।

असंयमित 'काम' के नरक को मनुष्य वैयक्तिक व सामाजिक जीवन मे भोगने को विवश है। इसी प्रकार अव्यवस्थित यज्ञ मात्र आडम्बर एवं अन्ध-विश्वास का रूप धरकर मनुष्य की आस्था और आत्मा को ग्रस रहा है।

हमारे जीवन में अग्नि दो रूपों में गतिशील है – 'कामाग्नि और यज्ञाग्नि'। काम सहजात वृत्ति है, परन्तु यज्ञ अर्जित और साधनाजन्य। यज्ञ अर्थात् कर्म परन्तु '**इदं इन्द्राय इदं न मम**' – लोक जीवन को समर्पित। 'यज्ञ' त्याग-वैराग्य-तपस् और निष्काम कर्म का सन्देश है। जो कुछ हमारे अहंकार के लिए सर्वाधिक प्रिय है, उसका अपने इस अहंकार से 'बृहत्तर सत्ता' के भीतर हवन करना 'यज्ञ' है। इस बृहत्तर सत्ता का विश्व रूप है – 'समष्टि' और आत्म रूप है 'स्वयं' – अपनी 'आत्मा'।

'आत्मा और व्यक्तिगत सत्ता का अहंकार – दो तरह के तत्त्व है। आधुनिक बुद्धि दोनों में प्रभेद नहीं कर पाती। अत: अहंकार-तृप्ति के लिए कार्य करना. वास्तव में यज्ञाग्नि में हवन नही होता वरन् 'तृष्णाग्नि' में हवन करना है। और तृष्णा तो सदैव अपूरणीय रही है –

तृष्णा वह अनल शिखा बन,
दिखलाती रक्तिम यौवन
जलने की क्यों न उठे उमंग
जलता है यह जीवन पतंग।

तथागत बुद्ध ने भिक्षुओ को सचेत किया है – "भिक्षुओ! आँखें जल रही हैं। सारा दृश्यमान जगत् जल रहा है। यह कौन सी अग्नि है? यह कामना की अग्नि है, इससे बचो।"

हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता – प्रभु अनन्त हैं, आकाश अनन्त है, इसलिए जीवन में कुछ पाना है तो अनन्त की ओर बढ़ो, व्यष्टि को समष्टि में विलय करके ही अपने को पाया जा सकता है। सीपी में 'मोती' तभी बन सकेगा, जब वह सागर में निष्काम भाव से निमज्जित हो सके – **संभूत्या अमृतमश्नुते** – अर्थात् सामाजिक परिवेश में एकात्मता की सृष्टि करना।

प्रसाद जी के शब्दों में –

अपने में सब कुछ भर –
कैसे व्यक्ति विकास करेगा।
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है –
अपना नाश करेगा।।

अत: जीवन मे उपलब्धि के ये दो ही मार्ग हैं – समर्पण और संकल्प। समर्पण का मार्ग सब कुछ परमात्मा पर छोड़ देता है। संकल्प का मार्ग – '**उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत**' विवेकानन्द जैसे प्राणवान और ओजस्वी लोगो के लिए है। परन्तु एक बात सुनिश्चित है, आधा आधा कोई भी मार्ग कही नहीं पहुँचाता। इस पार या उस पार का खतरा तो प्रत्येक उपलब्धि से जुड़ा हुआ है। आधा सन्देह, आधी श्रद्धा इससे ज्यादा विडम्बना की अवस्था नही है। आधा समर्पण, आधा संकल्प, इससे अधिक खण्डित चित्त क्या होगा?

कहते हैं कि शेरनी का दूध स्वर्ण-पात्र मे ही सुरक्षित रह पाता है, इसी प्रकार समर्पण अथवा भक्ति भाव केवल अवदमन-रहित चित्त में ही पल्लवित और पुष्पित हो पाता है।

'**हारे को हरि नाम**' से काम नहीं चलेगा। अत: दो नावो पर जीवन-यात्रा मात्र विडम्बना है।

हम बुद्धिप्रधान युग के जीव हैं। प्रत्येक कार्य सोच-विचारकर करने के अभ्यस्त है, परन्तु जीवन-मूल्य को तुम सोचने-विचारने से समझोगे नहीं। विचार से कोई समाधान नही मिलेगा। तुम्हें निर्णय और निश्चय पाना है जो मिथ्या न

हो, तो तुम विचार को त्यागो। थोड़े शान्त और निर्विकार होना सीखो – इसी को हम 'ध्यान' कहते हैं।

विचार तो टटोलना है, ध्यान आँख है। आँखें खोलकर तो हम यथार्थ ही पढ़ पाते है, परन्तु आँखें मूँदकर 'सत्य' की प्रतीति की जा सकती है। वर्तमान मनीषियो की 'ट्रेजेडी' यही है कि वे पेट के बल यथार्थ से बुरी तरह चिपके हुए हैं और रेंग-रेंगकर सत्य को पाना चाहते हैं, परन्तु सत्य से उनकी भेंट नहीं हो पाती। वे विश्वास ही नही कर पाते कि यथार्थ और सत्य दो तरह की बातें हैं – इनके आयाम ही भिन्न हैं।

तुम्हारे भीतर जो बड़े विचारक हैं, उनके हाथ में लालटेन अवश्य है – जो बुझी हुई है। वे विचार-ही-विचार करते हैं – निर्णय तक पहुँच ही नही पाते। विचार को सदैव ही समस्या दिखाई पड़ती है, समाधान सोचना पड़ता है। समस्या बाहर होती है, लेकिन समाधान तो अपना खुद का ही होता है।

सुकरात, प्लेटो और अरस्तू महान् विचारक हैं। महावीर और बुद्ध विचारक नहीं हैं – **आत्मदीपो भव** की राह पर चल कर निर्विचार को प्राप्त हैं। उन्हें समस्या मिलती ही नहीं। जहाँ जाते हैं समाधान ही पाते हैं – यही अवस्था ही 'समाधि' है, अन्यथा व्याधि का कोई ओर-छोर नहीं। वही जीवन पुण्य जीवन है, जिसमें पश्चात्ताप का कारण ही उपस्थित न हो।

भारत से विस्थापित बौद्ध उपासना 'विपश्यना' को ब्रह्मदेश से लाकर पुनर्स्थापित करनेवाले आचार्य सत्यनारायण गोयनका ने आज के मानव को निम्नलिखित शब्दों मे सचेत किया है – "Personal realisation of truth will automatically change the habit pattern of mind, so that one starts to live according to the truth. Every action becomes directed towards one's own good and the good of others. If this inner experience is missing, science is liable to be misused for destructive ends."

यदि हमने वैदिक ऋषियों की भाँति 'विश्वहित' की उपासना को नही अपनाया और सत्य के लिए **आत्मदीपो भव** की साधना की दिशा ग्रहण नही की तो तय है कि वर्तमान मदान्ध ने नेतृत्व आणविक दुरुपयोग से प्रलय ही उपस्थित कर देगा।

विचार-प्रवाह में, मै भी पूरी तरह भटक गया हूँ, अब मेरी-तुम्हारी बात हो जाए –

तुम कहते हो – मैं तुम्हारा हूँ और तुम मेरे हो,
लेकिन यह गलत है, व्याकरण की दृष्टि से भी,
क्योंकि मैं, मेरा होता है, और तुम, तुम्हारा होता है,
फिर भी मेरे दोस्त ! तुम ठीक कहते हो –
मेरे 'मैं' के घेरे में – तुम सब मेरे हो।"

'संभूत्या अमृतमश्नुते' *(कवि-मित्र 'सत्यव्रत अवस्थी')* ❑

विराग

मुंशी प्रेमचन्द

मुंशी प्रेमचन्द की यह कथा, रामकृष्ण संघ की आदि हिन्दी मासिक पत्रिका 'समन्वय' के वर्ष १९२४ के नवम्बर अंक में प्रकाशित हुई थी। सम्भवत: यह कथा हिन्दी में न तो अन्यत्र कही प्रकाशित हुई है और न ही उनके किसी भी संकलन में ली गई है। – सं.)

गोरखपुर रेल-विभाग के समस्त कर्मचारियों में कोई ऐसा विनयशील, धर्मपरायण व्यक्ति न था जैसे पण्डित बजरंगनाथ। बहुत सुशिक्षित, उन्नत विचार, सदय स्वभाव के आदमी थे। दफ्तर के सभी आदमी, छोटे से बड़े तक उनसे प्रसन्न रहते थे।

बैसाख का महीना था। मई की पहली तारीख। पण्डित जी ने वेतन के ८०/– पाए और घर में लाकर स्त्री के हाथों में रख दिए। स्त्री का नाम विन्ध्येश्वरी था। पति के समान वह भी दया और श्रद्धा की देवी थी। पति के लिए लोटे का पानी लाकर बोली – १०/– तो घर के किराया देना है, और ३०/– घर भेजने हैं।

बजरंग – हाँ, और १०/– दोनों बच्चों के लिए गुरुकुल भेजना होगा।

उनके मुहल्ले के दो बालक गुरुकुल आश्रम पढ़ने गए थे, जिन्हें १०/– मासिक सहायता देने का पण्डित जी ने वचन दिया था।

विन्ध्ये – हाँ, और क्या। कम-से-कम ५/– उस ब्राह्मण को देना चाहिए, जो अपनी कन्या के विवाह के लिए कुछ सहायता माँगने आया था।

बजरंग – हाँ, हाँ, मुझे तो उसकी याद ही न रही थी। गऊशाले का चन्दा भी तो २/– होगा।

विन्ध्ये – और २/– पुत्री पाठशाला का चन्दा भी तो है।

बजरंग – रुपये तो सब हो गए, तो हम बद्रीनाथ की यात्रा कैसे करेंगे?

विन्ध्ये – इसी में से १०/– निकालकर रख दो। प्रति मास इतना ही निकालेंगे तो साल के १२०/– हो जाएँगे। क्या इतने में बद्रीनाथ की यात्रा न हो जाएगी?

बजरंग – (हिसाब लगाकर) १०/– उधर जमा कर दूँ, तो महीने भर खर्च के लिए क्या बचेगा? कुल ११/– तो बचे।

विन्ध्ये – इतना खाने भर को बहुत है।

बजरंग – तुम्हारी साड़ी भी तो देखता हूँ फट रही है।

विन्ध्ये – इस महीने चल जाएगी। उस महीने में बन पड़ेगा तो ले लूँगी।

बजरंग – घर पर केवल २०/– भेजो। अबकी एक महरी रख ली जाय।

विन्ध्ये – नहीं, नहीं, महरी का क्या काम है? दो आदमियों के ऐसे ही बरतन ही कौन बहुत होते हैं?

इसी तरह पण्डित जी का वेतन प्रत्येक मास में बँट जाता था। महीनों के सोच विचार के बाद तब जाके एक जोड़ा साड़ी आती थी। किन्तु दोनों प्राणी इसी में सन्तुष्ट थे। उन्हे धन-धान्य की और अभिलाषा न थी। हाँ, अभी तक उनके कोई पुत्र नहीं था और दोनों स्त्री-पुरुष एक पुत्र के लिए लालायित रहते थे। उनकी परम लालसा थी कि हमारे एक पुत्र होता, केवल एक। उनके सुख-साम्राज्य में बस यही एक कमी थी।

(२)

शनैः शनैः १० वर्ष बीत गए। पण्डित बजरंगनाथ के ८०/– से १५०/– हो गये। उसी अनुपात से मासिक व्यय भी बढ़ा, लेकिन निज के खर्च के लिए अब भी वह किसी महीने में २५/– से अधिक न लेते थे, और वह भी इस कारण कि इतने दिनों में समय बहुत कुछ बदल चुका था और जीवन के पदार्थ महँगे हो गए थे। विन्ध्येश्वरी ने अभी तक कोई महरी न रखी थी, पर और सब कुछ हो गया, उनकी परम लालसा अभी तक पूरी न हुई, वह अभी तक पुत्रविहीन थी। पहले यह लालसा धार्मिक प्रवृत्तियों के नीचे दबी हुई थी, केवल कभी कभी उसकी याद आ जाती थी पर अब दोनो प्राणियों को, और मुख्यत: विन्ध्येश्वरी को, अपनी सूनी गोद देखकर दु:ख और सन्ताप होता था। उनकी धर्मनिष्ठा पहले प्रकृत, निस्स्वार्थ और निरिच्छ थी। पर अब उसमें स्वार्थ का समावेश होता जाता था, वह अब दान देकर उसका सुफल भी भोगना चाहते थे। उनमें कभी कभी बातें होतीं – ईश्वर कैसे न्यायी हैं, जो रातदिन स्वार्थ रत है, विषय-वासना में डूबे हुए हैं, उन्हें दूध पूत सभी देते हैं, और हमारी इतनी प्रार्थना भी नहीं स्वीकार करते। यही भक्तवत्सलता है! धर्मनिष्ठा में सारी उम्र गुजर गई और कोई सुख नही। हमसे तो वही अच्छे जो भोगविलास में जीवन व्यतीत करते हैं। कदाचित् भगवान की भी यही इच्छा है, नही तो हमारे ऊपर इतनी दयादृष्टि भी न होती! भक्तो के लिए चारों पुरुषार्थ हाथ बाँधे खड़े रहते हैं, यहाँ कुछ भी नहीं। मोक्ष न जाने होगा या नहीं। जब इतनी जरा सी लालसा न पूरी हुई तो मोक्ष कौन देता है?

पण्डित बजरंगनाथ पत्नी को समझाते रहते थे, भगवान की इच्छा कौन जानता है? अगर पुत्रहीन रहने ही में हमारा कल्याण हो तो? जब उनकी कृपादृष्टि होगी, अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष सभी मिल जायेंगे। भक्तो का कर्तव्य केवल अपने

तन-मन को भगवान के चरणों में अर्पित कर देना है। कल की कोई आशा न करनी चाहिए। हम अपनी सीमित बुद्धि से क्या जान सकते है कि हमारे लिए क्या हितकर है क्या नहीं? विन्ध्येश्वरी यह उपदेश सुनकर चुप तो हो जाती थी पर उसके मन को सन्तोष न होता था, और कदाचित पण्डित बजरंगनाथ स्वयं शुद्ध हृदय से यह बातें न करते थे, पुत्र-कामना से उनका मन भी चञ्चल हो जाता था, यद्यपि वे अपनी इच्छा को गुप्त ही रखते थे।

पण्डित जी के पड़ोस में एक बनिया रहता था। दोनों घरों की दीवारें मिली हुई थीं। बीच में बनियाइन ने एक छोटी सी खिड़की खोल ली थी। कभी कभी दोनों स्त्रियाँ खिड़की के सामने खड़ी होकर बातें किया करती थी। बनियाइन के कई बालक थे, लेनदेन होता था और कपड़े की दुकान चलती थी। दोनों ही अत्यन्त कृपण, कड़ा ब्याज लेने वाले प्राणी थे। स्त्री निज के तौर पर कुछ लेनदेन किए हुए थी और रुपये पर एक आना ब्याज लेती थी। उनके द्वार पर ऐसा ही कोई भाग्यवान भिखारी होता जो भिक्षा पा जाता, नहीं तो निरन्तर यही जवाब मिलता था, – फिर माँगो, अभी हाथ खाली नहीं है, इत्यादि। भिक्षुक मन में गालियाँ देते चले जाते थे। दीवार मिली रहने के कारण कभी कभी वैश्य-दम्पति की बाते इस घर में सुनाई देती थीं, विशेष इसलिए कि बनिए का कण्ठस्वर अत्यन्त कर्कश था।

एक दिन रात को विन्ध्येश्वरी भोजन करके आंगन में लेटी हुई थी और पण्डित जी कोई समाचार-पत्र पढ़ रहे थे कि बनिया दुकान बढ़ाकर घर में आया। उसकी स्त्री ने पूछा – आज कैसी बिक्री हुई? बनिया बोला – आज तो सारे दिन मक्खियाँ मारता रहा, बोहनी तक न हुई।

बनियाइन – यहाँ भी न जाने किसका मुँह देखा था कि तेल की हंडी हाथ से छूट पड़ी और सारा तेल बह गया।

बनिया – पड़ोसवाली पण्डिताइन का मुँह तो नहीं देखा था?

बनियाइन – हाँ, हाँ, खूब याद आया, मैंने उठते ही खिड़की से झाँका था तो वह स्नान कर रही थी।

बनिया – यहाँ भी उसी पण्डित का मुँह देखा था। घर से चला नहाने तो बैठा हुआ मुँह धो रहा था।

स्त्री – न जाने इन सभो का पौरा यहाँ से कब टलेगा।

बनिया – इसी से सास्तरो में बाँझ स्त्री का मुँह देखना वर्जित है। अब से मैंने निश्चय कर लिया है कि पिछवाड़े के रास्ते निकलकर स्नान करने जाया करूंगा।

स्त्री – मैं भी बिना दिन चढ़े इधर की खिड़की न खोलूँगी।

निशा की नीरवता असाधारणत: शब्दवाहिनी होती है। यही कारण था या दोनो प्राणियो ने इन लोगों को सुनाने के लिए यह बाते की थी, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। पर बातें स्पष्ट सुनाई दीं। दोनों प्राणियों ने सुनी। विन्ध्येश्वरी ने विषादमय नेत्रों से पति की ओर देखा और सजल-नयन होकर सिर झुका लिया। पण्डित जी ने एक ठंडी साँस ली और अखबार को जमीन पर रखकर आकाश की ओर ताकने लगे। उनकी धर्मनिष्ठा कभी इतनी कठिन परीक्षा में न पड़ी थी।

कुछ देर के बाद विन्ध्येश्वरी ने कहा – कोई दूसरा घर खोजो।

बजरंगनाथ बोले – हाँ, कल।

(३)

घर तो दूसरे ही दिन बदल दिया गया, पर उन बातों से हृदय पर जो आघात पहुँचा था उसका निवारण न हो सका। जो आग पहले दबी हुई सुलगती रहती थी उसने अब प्रचण्ड रूप धारण कर लिया था और उसकी शिखाएँ जीवन के उच्चादर्शो को स्पर्श करने लगी थीं। श्रद्धा, भक्ति और कर्मनिष्ठा पर अब उनका विश्वास उठने लगा था। धार्मिक जीवन अब उन्हें पाखण्ड सा प्रतीत होता था।

सन्ध्या का समय था, पण्डित बजरंगनाथ मासिक वेतन के १५०/- स्त्री के हाथों में रखते हुए बोले – अभी तो समय है, लाओ, टहलता आऊँ और गऊशाले के ५/- देता आऊँ। उधर से ही पाठशाला का चन्दा भी देता आऊँगा।

पुरखों की थाती

अन्नदानात्परं दानं न भूतं न भविष्यति।
अन्नेन धार्यते सर्वं जगदेतत् चराचरम्॥

– इस संसार में अन्नदान की अपेक्षा उत्तम दान न तो कभी हुआ है और न होगा; (क्योंकि) यह चर-अचरमय (जड़-जंगम) पूरा जगत् अन्न पर ही आश्रित है।

अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो वृद्धः सन् किं करिष्यसि।
स्वगात्राण्यपि भाराय भवन्ति हि विपर्यये॥

– जो कुछ उत्तम लगे उसे आज ही कर डालो, क्योंकि वृद्ध होने के बाद क्या करोगे? उस समय तो अंगों में दुर्बलता आ जाने से शरीर ही एक बोझ-सा हो जायेगा।

अरावप्युचितं कार्यम् आतिथ्यं गृहम् आगते।
छेत्तुः पार्श्वगतात् छायां न उपसंहरते द्रुमः॥

– घर में आये हुए शत्रु का भी हर प्रकार से स्वागत-सत्कार करना उचित है, क्योंकि काटने के लिए समीप आये हुए व्यक्ति के ऊपर से भी वृक्ष अपनी छाया को नही हटा लेता।

विन्ध्येश्वरी ने रुपयों को सन्दूक में बन्द करते हुए कहा – अबसे किसी को न दूँगी। क्या फायदा? क्या और सब लोग खाना पहनना जानते हैं और हम नहीं जानते? केवल ३०/– रुपये घर पर तो भेज दो, बाकी रुपये घर के खर्च में आएँगे। कल एक कहार तलाश करके रख लो। तप करते करते आधी उम्र बीत गई और उसका कुछ फल ही नहीं। अपने पेट खाते, अपने तन पहनते तो तस्कीन (तसल्ली) होती, दूसरे के लिए व्यर्थ क्यों जाने दें? सृष्टि ईश्वर की है, वह उसका पालन करता ही है, हम क्यों अपनी वासनाओं का दमन करें?

बजरंग ने हँसकर कहा – लाओ लाओ, देता आऊँ, लोग क्या कहेंगे?

विन्ध्ये – दुनिया को किसी के कहने का डर नहीं है तो हमीं को काहे? किसी को दूध भी और पूत भी, यहां एक से भी गए !

बजरंगनाथ के हृदय में भी यही भाव प्रसवित हो चुके थे। एकबार और ऊपरी मन से कहा, फिर २/– लेकर कलमी आम लेने बाजार चले गए।

आज से दोनों प्राणी आत्मसेवा में रत हो गए। अच्छे अच्छे भोजन बनने लगे, सुन्दर वस्त्र धारण करने लगे, १२०/– होते ही क्या हैं, खाने पहनने में ही उड़ने लगे। पहले जितना परोपकार करते थे पेट और तन काट के। अब इच्छापूर्ण भोजन और वस्त्र का व्यवहार करने लगे तो महीने के लिए वेतन काफी न होता।

(४)

ईश्वर की माया ! जीवन की इस कायापलट के दूसरे ही साल विन्ध्येश्वरी को एक पुत्र उत्पन्न हुआ। मङ्गलगान होने लगा, बाजे बजने लगे। उत्सव की तैयारियाँ होने लगीं।

बालक की बरही थी, घर में डोमनियां जा रही थीं, बाहर दोस्तों की महफिल थी। मित्रवर्ग जमा थे। सम्बन्धियों को भी निमंत्रण दिया गया था। शामियाना तना हुआ था, मलार की तानें उड़ रही थीं। एक तरफ दावत का सामान हो रहा था। हलवाई मिठाइयाँ और पूरियां निकाल रहा था। विन्ध्येश्वरी सौर में बैठी हुई खुशी के मारे फूली न समाती थी। बार बार नवजात बालक का मुँह देखती और बार बार उसका मुख चुम्बन करती। हृदय शीतल हो जाता था। मेरे प्यारे लाल, तुमने आकर मेरा मुंह उज्जवल कर दिया। अब किसका मुंह है जो मुझे ताना दे? उस पड़ोसी बनिए को भी बुलाया गया था जिसने विन्ध्येश्वरी के प्रति वह हृदय विदारक शब्द कहे थे। बनियाइन कुछ अनमनी सी बैठी थी और विन्ध्येश्वरी की सास, जो घर से इस उत्सव का प्रबन्ध करने के लिये आ गई थी, बार बार बनियाइन को ठेने दे रही थी। विन्ध्येश्वरी बड़ी उत्कण्ठा से मना रही थी कि उत्सव समाप्त हो और मैं अपने प्यारे लाल को उसके पिता की गोद में रख दूं ! उनकी आंखों में तेज आ जायगा, छाती गजभर की हो जायगी।

११ बज गये थे। मेहमान लोग बिदा हो गये थे। महफिल उठ चुकी थी। नौकर चाकर निश्चिन्त होकर खाने बैठे थे। बाबू बजरंग बालक का मुंह देखने के लिए व्याकुल हो रहे थे। मेहमानो को विदा करके घर में गये। विन्ध्येश्वरी सौर से पवित्र होकर निकल आई थी। उसका मुख कमल के समान खिला हुआ था। बजरंग ज्यों ही घर में गये, उसने मुसकिरा कर कहा, पुत्र मुबारक हो और बालक को गोद में उठाकर पिता की गोद में रख दिया। संसार की माया पाकर भी उनका हिय इतना हुलसित न होता; किन्तु सुन्दर मोहनी मूर्ति थी, मानों देवताओं का आशीर्वाद मूर्तिमान हो गया हो।

बालक को लेकर उसका मनोहर मुखड़ा देखा, आँखें जगमगा उठीं। छाती से लगाया, छाती फूल उठी।

विन्ध्येश्वरी ने कहा – तुमसे कोई भारी इनाम लूँगी।

बजरंगनाथ बोले – ईश्वर बालक को चिरायु करें, यही मेरा तुम्हें सबसे बड़ा इनाम है।

इस तरह बातें करते हुए दोनों आदमी सोये। दिन भर के थके थे, तुरन्त नींद आ गई। मगर थोड़ी ही देर के बाद बजरंगनाथ एक स्वप्न देखकर चौंक पड़े, जैसे एक महात्मा आकर बाल के सिरहाने खड़े होकर उनसे कह रहे हैं, ले अब तो तेरी मनोकामना पूरी हो गई। यह स्वार्थ का फल है, इस पर तू इतना मुग्ध है; परमार्थ का फल इससे कही बढ़कर होता; तू कञ्चन न लेकर लोहे पर लट्टू हो गया। यह कहकर महात्मा अन्तर्द्धान हो गए।

चारों ओर निशीथ की नीरवता छाई हुई थी। दीपक जल रहा था। बालक मीठी मीठी निद्रा में सो रहा था, मानो किसी सज्जन के हृदय में शुभ कल्पना अभिनन्दित हो रही हो। बजरंगनाथ के कानों में स्वप्न के शब्द गूंज रहे थे। उन्होंने शिशु के मुख की ओर देखा और दिल में कहा, क्या इससे भी उत्तम कोई वस्तु है? अवश्य है। स्वार्थ का फल ऐसा प्रमोदमय है, इतना आनन्दवर्धक, तो परमार्थ का फल कितना मंगलकारी, कितना देवदुर्लभ, कितना सुधासम होगा !

वह तत्क्षण घर से निकले, बालक की ओर एक बार कातर नेत्रों से देखा और जंगल की राह ली। फिर किसी को उनकी सुधि नहीं मिली। ❑❑❑

रामकृष्ण मिशन, राँची की प्लैटिनम जयन्ती
(१९२१-२००२)

रामकृष्ण-विवेकानन्द भावादर्श प्रचार-प्रसार और बहुमुखी कार्य-प्रणाली का एक उज्ज्वल दृष्टान्त है राँची (झारखण्ड) के मोराबादी में स्थित रामकृष्ण मिशन आश्रम। दिव्यायन के तत्वावधान में कार्यरत यह आश्रम देश की सेवा एवं संगठनपरक संस्थान के रूप में ज्ञात एक उज्ज्वल नक्षत्र के सदृश है। इस आश्रम की स्थापना १९२७ ई. में रामकृष्ण मठ व मिशन के अष्टम अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी विशुद्धानन्द जी महाराज द्वारा हुई थी। गत २००२ ई. में राँची के इस रामकृष्ण मिशन की ७५ वर्षपूर्ति (प्लैटिनम जुबली) के उपलक्ष्य में अनेकों कार्यक्रमों का आयोजन एवं एक स्मारिका का भी प्रकाशन हुआ। रामकृष्ण मठ-मिशन के अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज, उपाध्यक्ष-द्वय श्रीमत् स्वामी गहनानन्द जी तथा श्रीमत् स्वामी आत्मस्थानन्द जी, महासचिव स्वामी स्मरणानन्द जी ने अपनी आशीर्वाणियाँ प्रदान की थीं और तत्कालीन राष्ट्रपति श्री के. नारायणन्, प्रधानमंत्री श्री अटलबिहारी वाजपेयी, वित्तमंत्री यशवन्त सिन्हा और झारखण्ड के राज्यपाल एम. रामा जायेस तथा भारत सरकार के कृषि और ग्रामीण उद्योग मंत्री श्री कड़िया मुण्डा ने अपनी शुभ-कामनाएँ व्यक्त कीं।

इस आश्रम का श्रीगणेश बड़े अलौकिक रूप से हुआ था। आशुतोष नाम का एक व्यक्ति, जिसे श्रीरामकृष्णदेव 'झूनो सरषे' कहकर बुलाते थे, वे शिलांग में कार्यरत थे। वहाँ उनके घर तथा अन्य भक्तों के घर पर भी 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' ग्रन्थ का पाठ होता था। किन्तु अपनी नौकरी के चलते उनका ढाका में तबादला हो जाने के कारण वह पाठ बन्द हो गया। फिर उनके तथा उनके सहकर्मियों के पुन: राँची में तबादला होने के बाद भी 'वचनामृत' का पाठ प्रारम्भ नहीं हो सका।

एक दिन रात में सोते समय आशुतोष बाबू ने सुना कि कोई उन्हें बुला रहा है – 'झूनो सरषे !' उनकी नींद टूट गई। वे आश्चर्यचकित हो गए। क्योंकि श्रीरामकृष्ण के अतिरिक्त दूसरा कोई उन्हें इस नाम से नहीं बुलाता था और अन्य कोई इस नाम को जानता तक नहीं था। दरवाजा खोलकर देखते हैं – हाथ में चिमटा और गेरुआ वस्त्र पहने श्रीरामकृष्ण स्वयं खड़े हैं। उन्होंने आशुतोष बाबू को कहा – ''हमारे विषय में तुम लोग शिलांग में कुछ पाठ आदि करते थे। ढाका में शायद उसकी कोई आवश्यकता नहीं थी, किन्तु यहाँ (राँची में) वह सब क्यों बन्द कर दिया? ऐसा मत करो।'' इस प्रकार राँची में श्रीरामकृष्ण भावान्दोलन का बीजारोपण स्वयं भगवान श्रीरामकृष्ण ने आशुतोष राय के माध्यम से किया।

यहाँ इस भावारम्भ ने श्रीरामकृष्ण के कई शिष्यों को बड़ा ही आकृष्ट किया। १९१३ ई. में स्वामी प्रेमानन्द जी, १९१४ ई. में स्वामी शिवानन्द जी १९१६ ई. में गौरी माँ, १९१५, १९१६, १९१७, १९२०, १९२१, १९२६, १९२८ और १९३१ ई. में स्वामी सुबोधानन्द जी और १९२४ ई. में स्वामी अभेदानन्द जी का यहाँ शुभ पदार्पण हुआ था।

आश्रम की स्थापना के लिए स्वामी विशुद्धानन्द जी महाराज १९२७ ई. में बेलूड़ मठ से राँची आए। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के एक निकट-सम्बन्धी ने एक भूखण्ड सहित एक छोटा-सा भवन आश्रम के लिए दान में दिया। श्रीरामकृष्ण की इच्छा और स्वामी विवेकानन्द का स्वप्न राँची के इस 'रामकृष्ण मिशन आश्रम' के रूप में साकार हुआ है। कालक्रम से आज प्राय: ३५ वर्ष से भारत के एक श्रेष्ठ कृषि-विज्ञान केन्द्र 'दिव्यायन' के रूप में विख्यात है। इस संस्था के नि:स्वार्थ सेवा-कार्य को देखकर जनजातीय कार्य-मन्त्रालय ने इसे एक 'सुस्थापित स्वयंसेवी संस्था' (Established Voluntry Association) के सम्मान से विभूषित किया है।

आश्रम की पुरानी स्मृतियों से रोमांचित होकर माँ श्री सारदादेवी के शिष्य ज्योतिन्द्रनाथ घोष के पुत्र मृणालकान्ति घोष कहते हैं – ''१९२७ ई. में एक होमियोपैथिक डिस्पेनसरी से राँची आश्रम की शुरुआत हुई थी। तब वहाँ एक खपड़ैल के मकान में स्वामी विशुद्धानन्द जी एक ब्रह्मचारी के साथ रहते थे और श्री ठाकुर, श्रीमाँ, तथा स्वामीजी के चित्र स्थापित कर नियमित पूजा-पाठ करते थे। यद्यपि वे अपना अधिकांश समय जप-ध्यान में ही व्यतीत करते थे, तो भी उनके सरल जीवन और त्याग, तपस्या तथा सहृदयता से प्रभावित होकर विशेषत: निर्धन लोग उनके पास आया करते थे। धीरे धीरे डोराण्डा के वीणापाणि क्लब और मातृभक्त प्रफुल्ल चन्द्र गांगुली के घर भी गीता और उपनिषद् का पाठ आरम्भ हुआ। वहाँ बहुत-से भक्तों का समागम होता था। स्वामी विशुद्धानन्द जी के व्यक्तित्व ने उस समय राँची और आसपास के क्षेत्र के

लोगों को श्रीरामकृष्ण-भावधारा ग्रहण करने में पर्याप्त सहायता की थी। आश्रम में ठाकुर, माँ और स्वामीजी के जन्मोत्सव के अतिरिक्त अन्य कई उत्सवों का आयोजन भी होता था, जिनमें हम सभी लोग सक्रिय रूप से भाग लेते थे। डोरान्डा और हिनू में आयोजित सभी उत्सवों में स्वामी विशुद्धानन्द जी जाते और व्याख्यान देते। उस समय हाथी की पीठ पर श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ और स्वामीजी के चित्रों को सजाकर शोभायात्रा निकाली जाती थी। भजन-कीर्तन का भी आयोजन होता था। आश्रम के प्रत्येक कार्यक्रम में भक्तों का सक्रिय सहयोग होता था। स्वामी विशुद्धानन्द जी के प्रयत्न से राँची के डुमरी में रामकृष्ण मिशन टी. बी. सेनेटोरियम की स्थापना हुई, जहाँ यक्ष्मा से पीड़ित रोगियों की चिकित्सा तथा सेवा की जाती है। उन्होंने लगातार २५ वर्षों तक राँची में निवास करके लोगों के शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास के प्रकाश-स्तम्भ रूप में कार्य किया है।''

१९४८ ई. में स्वामी विशुद्धानन्द जी ने आरोग्य आश्रम की आधारशिला रखी थी और १९५१ ई. में ३२ शैय्याओं के साथ यह आश्रम यक्ष्मा-रोगियों की सेवा के लिए उद्घाटित हुआ। स्वामी विवेकानन्द के द्वारा प्रवर्तित मानव-सेवा के आदर्श से अनुप्राणित इस सेनेटोरियम के माध्यम से चिकित्सा-सेवा के साथ साथ शिक्षा, संस्कृति और आध्यात्मिक तथा लोक-कल्याण के विविध कार्य सम्पन्न हो रहे हैं।

रामकृष्ण मठ तथा मिशन के उपाध्यक्ष होने के बाद भी स्वमी विशुद्धानन्द जी महाराज ने राँची में कई वर्षो तक निवास किया था। परन्तु उच्चतर दायित्व के पालन हेतु १९५२ ई. में उन्हें बेलूड़ मठ जाना पड़ा। उसके बाद स्वामी सुन्दरानन्द जी, स्वामी मुक्तानन्द जी, स्वामी वागीशानन्द जी, स्वामी शुद्धव्रतानन्द जी, स्वामी तत्त्वबोधानन्द जी और स्वामी आत्मविदानन्द जी के मार्गदर्शन में आश्रम का तीव्र गति से विकास-कार्य चलता रहा। नये भवन का निर्माण हुआ, पुस्तकालय और एक दातव्य चिकित्सालय की भी स्थापना हुई। इसके अलावा बिहार के दुर्भिक्ष तथा राँची के सम्प्रदायिक दंगे के समय भी राहत-कार्य हुआ था और पूर्व पाकिस्तान (बंगला-देश) से आगत शरणार्थियों की सेवा भी की गई थी। १९३६ ई. में विशेषकर इन क्षेत्र के आदिवासी युवकों को कृषि, उद्यानिकी, पशुपालन, कुक्कुट-पालन, मधुमक्खी-पालन, गो-पालन, बतख-पालन, मत्स्य-पालन, मशरूम, रेशम तथा टसर की खेती करना, वेल्डिंग करना, लोहे के हैण्ड-पम्पों की मरम्मत करना, अप्रचलित विद्युत उत्पादन करना इत्यादि का प्रशिक्षण देकर उन लोगों को आत्मनिर्भर करने के उद्देश्य से 'दिव्यायन' नामक अवैतनिक आवासीय प्रशिक्षण केन्द्र की स्थापना हुई, जिसके बारे में पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ पर 'भारतीय कृषि अनुसन्धान निगम' द्वारा स्वीकृत कृषि विज्ञान केन्द्र है। ७,२९१ प्रशिक्षार्थी यहाँ शिक्षा ग्रहण करते हैं। ३९५१ छात्रों को लेकर ७० वर्ग किलोमीटर में ७१ रात्रि पाठशालाओं का संचालन होता है। इसके अलावा यहाँ जल और मिट्टी संरक्षण का प्रशिक्षण भी दिया जाता है। इसके कारण बिहार तथा आसपास के राज्यों के आदिवासी युवकों को प्रोत्साहन मिल रहा है। इसके अतिरिक्त स्वामी शशांकानन्द जी के मार्गदर्शन में विशेषत: ग्रामीण आदिवासी युवतियों को आत्मनिर्भर करने हेतु 'सशक्ति स्वयं-सहायता समूह' नामक एक नया प्रकल्प आरम्भ हुआ है। 'दिव्यायन' इस स्वरोजगार के अतिरिक्त युवकों को साधारण शिक्षा, संस्कृति, स्वास्थ्य, धर्मशिक्षा आदि में भी निपुणता प्रदान कर उन्हें उन्नत कर रहा है, ताकि वे लोग देश के एक योग्य नागरिक बन सकें। रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के सप्तम अध्यक्ष स्वामी शंकरानन्द जी की भाषा में – ''आज यहाँ जो कुछ भी हुआ है और हो रहा है वह स्वामी विशुद्धानन्द जी की २७ वर्ष की सुदीर्घ तपस्या का फल है।'' भविष्य में इस आश्रम के द्वारा और भी अनेकों मानव-कल्याण की संभावना है।''

❑ ❑ ❑